योग सिद्धान्तो और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 31 जुलाई, 1998 अंक 4

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, संवाई (आगरा) – 283 202

SIDDHYOG

July 1998

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति	रु० 7-00
वार्षिक शुल्क	रु० 70-00
द्विवार्षिक	रु० 130-00
आजीवन	रु० 700-00

इस अंक में

- बन्धकारण शैथिल्यात्प्रचार..... 1
- अमृत कण..... 2
- विभूतिपाद की विभूतियाँ (विशेष लेख)..3
  योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन
- योग मार्ग में विघ्न एवं उनकी निवृति के उपाय (सम्पादकीय)..... 6
- किमस्ति योगः
  द्वारका प्रसाद शर्मा..... 9
- मृत रजकण
  राजेन्द्र प्रसाद पाठक..... 14
- माया
  डा. जयनारायण 17
- विश्वबन्ध सद्गुरुदेव
  राधेश्याम तिवारी..... 20
- धनसंचय की अनियन्त्रित भावना
  राजीव कुमार श्रीवास्तव..... 22
- शक्ति प्रतीक : अवतार गुरु और सिद्ध पुरुष
  स्वामी सारदानन्द..... 26
- भूगविद्या का साधन-साध्य-२
  अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती.... 31
- स्वामी विवेकानन्द ने कहा था..... 38

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 31
अंक 4

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवत् महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

जुलाई
1998

बन्धकारण शैथिल्यात्प्रचार संवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।।

पातं.यो.द.विभूतिपाद ३/३८

अर्थात्

चित्त के बन्धन का कारण कर्म–संस्कार है; कर्मों का फल भुगतने के लिए ही यह चित्त किसी एक शरीर में बंधे रहने के लिए बाध्य हो जाता है। उक्त बन्धन के कारण रूप कर्म संस्कारों को जब मनुष्य समाधि के अभ्यास द्वारा शिथिल करके चित्त को स्वच्छ बना लेता है और साथ ही जिन–जिन मार्गों द्वारा चित्त शरीर में विचरता है, उन मार्गों को और चित्त की गति को भी भली भाँति जान लेता है; तब उसमें यह सामर्थ्य आ जाती है कि वह अपने चित्त को शरीर से बाहर करके दूसरे के (मृत या जीवित) किसी भी शरीर में प्रविष्ठ कर सकता है। चित्त के साथ–साथ इन्द्रियाँ भी जहाँ चित्त जाता है, वहाँ अपने–आप चली जातीं हैं।

अमृत कण

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतूँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

—ईशावास्य उपनिषद्

सब कुछ प्रभु का ही है, इस भावना के साथ, निष्काम भाव से कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करने वाला मनुष्य कर्म बन्धन से मुक्त रहता है। इसके अतिरिक्त दुःख से बचने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

* * *

सन्तोषो वै स्वातिमूः सन्तोषः परमं सुखम्।
तुष्टेर्न किञ्चित परतः सा सम्यक् प्रति तिष्ठति।।

—महाभारत

मनुष्य के मन में संतोष होना स्वर्ग की प्राप्ति से बढ़कर है। संतोष ही सबसे बड़ा गुण है। मन में संतोष से भली भाँति प्रतिष्ठित हो जाने पर जो सुख—शान्ति की उपलब्धि होती है उससे बढ़कर संसार में और कुछ भी नहीं है।

* * *

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।

—श्रीमद्भगवत गीता

जो शास्त्र के विधि—विधान को त्यागकर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परम गति को प्राप्त होता है और न सुख को ही प्राप्त होता है।

विशेष लेख

विभूतिपाद की विभूतियाँ

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

भिन्न-भिन्न समयों पर **'सिद्धयोग'** में प्रकाशित होने वाले हमने अपने लेखों में यह भली-भाँति समझाने का प्रयत्न किया है कि सिद्धियों का आधार संयम है। संयम सिद्ध हो जाने पर ही योगी को सकल सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। योग दर्शन के विभूतिपाद में भगवान पतंजलि देव ने जिन-जिन सिद्धियों का जिक्र किया है वे सब संयम पर आधारित हैं। इससे पहले कि मैं सिद्धियों का वर्णन करूं **'संयम'** का अर्थ समझा देना परमावश्यक है। संयम की परिभाषा लिखते हुए भगवान पतंजलिदेव अपने एक बहुत छोटे सूत्र में लिखते हैं।

त्रयमेकत्र संयमः॥

इस सूत्र पर श्री व्यास भाष्य की पंक्तियाँ निम्नांकित हैं:

एक विषयाणि त्रीणि साधानानि
संयम इत्युच्चते तैदस्य त्रयस्य।

अर्थात् धारणा ध्यान समाधि तीनों साधनों का एक लक्ष्य में लक्षित हो जाना ही संयम की सही परिभाषा है। इस बात को इस प्रकार से समझ लेना चाहिए। जैसे एक नया साधक ज्योंही योगाभ्यास करना आरम्भ करता है उसके सामने पहला लक्ष्य रहता है **धारणा** को सिद्ध करना। साधक धारणा को सिद्ध करने को कोई अभ्यास आरम्भ करता है तो धारणा के लक्षीभूत किसी एक देश को अपने चिन्तन का आधार बनाता है। धारणा का लक्षण भी बतलाते हुए भगवान पतंजलि देव ने लिखा है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थात्—किसी एक लक्ष्य में अपने चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। इस सूत्र पर भी श्री व्यासदेव जी धारणा की परिभाषा समझाते हुए धारणा स्थलों का निर्देश इस प्रकार करते हैं :

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि
ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाऽग्रइत्येव
मादिषु देशेषु, वाह्ये वा विषये,
चित्तस्य वृतिमात्रेणवन्ध इतिधारणा।

अर्थात्—जिस समय साधक धारणा का अभ्यास करना आरम्भ करे तब वह मन के चिन्तन से ही धारणा के लक्ष्य को केन्द्रित करे। और योगाचार्यों के अनुभूत स्थान नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धाज्योति नासिकाग्र, जिह्वाग्र, जिह्वामूल आदि-आदि हैं। जिस समय कोई भी योगी साधक उपरोक्त धारणा स्थलों को लक्षित केन्द्र बनायेगा तो वहाँ सब दृश्य धीरे उसके सामने आने लगेगा, एवं उसका सर्वाधिक मन धारणा स्थल में एकाग्र हो जायेगा। धारणा का फल है मन की ताकत का बढ़ जाना। भगवान् पतंजलि देव स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं—

धारणासु योग्यता मनसः।

धारणा मन को ध्यान करने लायक बल दे देती

हैं। किन्तु अभ्यासी साधक को धारणा के विषय में सफलता लाभ करने के लिए यह याद रखना चाहिए कि वह धैर्य को न छोड़े। यह किस प्रकार का कोर्स है। यदि साधक इसको परिपक्व कर डालेगा तो आगे की भूमिकाओं में उसको कुछ भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। भगवान पतंजलिदेव इसके बारे में निर्देश करते हैं कि —

सतु दीर्घकालनैरन्तरर्यसत्कारासेवितो दृढ़–भूमि।।

अर्थात् एक अभ्यास को परिपक्व करने के लिए उसको लम्बे समय तक करते ही रहना चाहिए। ताकि वह परिपक्वता पा जाये। और यह भी परमावश्यक है कि उस अभ्यास में अभ्यास करने वाले साधक की परिपक्व निष्ठा हो अर्थात् उस ही साधन को अपना उत्कृष्ट लक्ष्य बनावे। साधक के प्रति साधक के मन में आदर बुद्धि रहनी चाहिए। और जिस समय अभ्यास आरम्भ करें उसको लगातार आदर पूर्वक लम्बे समय तक करता चला जाय। ऐसा करने पर ही साधक ध्यान–धारणा आदि के परिणाम को समझ सकेगा। साधक ज्यों–ज्यों धारणा के अभ्यास को परिपक्व बनाता चला जायेगा त्यों–त्यों वह धारणा ही ध्यान के रूप में बदलती चली जायेगी। धारणा का अभ्यास इतना परिपक्व हो जायेगा कि चिन्तन मात्र से ही मन धारणा में अपने आप केन्द्रित होने लगेगा। यह अभ्यास ज्योंही पूर्णता को प्राप्त हो जायेगा त्योंही वह परिवर्तित धारणा ध्यान बन जायेगी। ध्यान का लक्षण बतलाते हुए योगदर्शन में लिखा गया है—

तत्रप्रत्येकतानता ध्यानम्।

अर्थात्—धारणा के लक्षीभूत विषय में तैल धारा वत् मन का सतत् संलग्नित होना ध्यान कहलाता है। अब पढ़िये श्री व्यास देवजी की व्याख्या—

तस्मिन देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्यय–स्यैकतानता = सदृश: प्रवाह: प्रत्यान्त रेणा परामृष्टो ध्यानम्।।

अर्थात्—लक्षित विषय में मन का विना बाधा रहित लगा रहना ही ध्यान कहलाता है। विशेषता इसमें यह होगी कि साधक धारणा काल में धारणा के विषय का चिन्तन मन की कल्पना से करता था। ध्यान में वही विषय रूहानी आँखों से प्रत्यक्षवत् स्पष्ट दिखाई देने लगेगा। साधक अपनी बाह्य चेतना से बिल्कुल शून्य हो जायेगा। और अन्तर जगत् में लीन होकर के भीतरी दृश्यों को बराबर देखता रहेगा। योगी साधक का ध्यान जब परिपक्व हो जायेगा तब यह ध्यान ही अपने आप उस रूहानी गुरु–परमात्मा की कृपा से समाधि रूप में बदल जायेगा। समाधि का अर्थ है—

तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूप शून्य मिव समाधि:।

ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भासि प्रत्यया त्मकेनस्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ६ येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते।

अर्थात्—ध्यान ही ध्येयाकार में परिवर्तित होकर समाधि का रूप धारण कर लेता है। इसमें कोई भी दूसरा प्रत्यय सामने नहीं आता। विशेषता केवलमात्र इतनी ही है कि ध्यान करने वाला साधक स्वयं ध्येयाकार में बदल जाता है। जैसे किसी साधक ने श्री राम का ध्यान करना प्रारम्भ किया और वह ध्यान में दीखने लगे। कालान्तर में अभ्यास के बढ़ते–बढ़ते स्थिति इस प्रकार की सामने आ जायेगी कि साधक स्वयं को श्री राम देखने लगेगा। वह अपने बाह्य बोध को बिल्कुल भूल जायेगा। और अन्तर जगत में अपने देवदत्त हरिदत्त बाह्य नामों को भूलकर अन्तर्जगत् में 'मैं राम हूँ' इसी का उसको बोध होगा। शनैःशनै बढ़ते हुए समाधि की यह स्थिति आ जायेगी

कि 'श्री राम' की सकल सिद्धियाँ उसके आगे पीछे घूमने लगेंगी और वह साधक समझने लगेगा कि यह सिद्धियाँ और की नहीं प्रत्युत मेरी अपनी हैं। श्री राम का चिन्तन करने वाले भक्तजन उसको अपने चिन्तक दिखाई देने लगेंगे। यह समाधि की सिद्धि है। इसी की तान्त्रिकी परिभाषा **संयम** कहलाती है। धारणा ध्यान और समाधि तीनों में साधक **प्रत्यान्तरेण अपरामृष्ट** विषय में ही स्थिर रहता है तो समझ लेना चाहिए कि उसको संयम हो गया। यह संयम समाधि का ही प्रत्यान्तरेण अपरामृष्ट शुद्ध रूप है। जो साधक लगातार दो या तीन वर्ष तक संयम का उत्कृष्ट अभ्यास कर लेते हैं तो समझ लेना चाहिए कि उन्होंने संयम पर जय प्राप्त कर ली। संयम पर जय प्राप्त कर लेने से समाधि प्रज्ञा स्वतः ही प्रकट हो जाती है अर्थात् उत्तरोत्तर समाधि प्रवाह स्वच्छ बहने लगता है भगवान् पतंजलिदेव लिखते हैं—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः।

अर्थात् संयम सिद्ध हो जाने पर प्रज्ञालोक हो जाता है। या बुद्धि प्रकाश हो जाता है। पढ़िये श्री व्यासदेव जी की पंक्तियाँ—

तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोकः यथा यथा संयम–स्थिरपदों भवति तथा तथा समाधि प्रज्ञा विशारदी भवति।

अर्थात् संयम जय हो जाने पर समाधि प्रज्ञा का उत्कर्ष उत्तरोत्तर दृढ़ हो जाता है। स्थिति प्रवाह बिल्कुल निर्मल होता चला जाता है। अभ्यास के बल से जब साधक इस प्रकार की स्थिति को उपलब्ध कर लेता है। और पूर्णतया समझ लेता है। कि मेरा संयम सिद्ध हो चुका है तब वह उपलब्ध स्थिति वाला योगी अन्यान्य भूमिकाओं में संयम का उपयोग करे। श्री पतंजलि ऋषि लिखते हैं—

तस्य भूमिषु विनियोगः

इस सूत्र पर व्यास भाष्य का सार इस प्रकार है— पहले–पहले योगी अपने अभ्यास बल से संयम सिद्ध करता है तो साधक के मन का लगाव उन पहली भूमिकाओं में अधिक रहता है। जिनमें अभी तक वह संयम करता रहा है क्योंकि पहली भूमिकाओं में जय प्राप्त किए बिना ज्ञान विषयक बुद्धि का प्रकाश नहीं हो जाता कदाचित् साधक यदि ईश्वर की कृपा से उत्तर भूमियों में जय प्राप्त करले तो उसके बाद में निम्न श्रेणी की भूमिकाओं में उसको संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि अधः भूमियों जो परिवित ज्ञानादि की हैं वह तो साधक को ईश्वर कृपा से उत्तर भूमियों में जय प्राप्त कर लेने पर निम्न भूमिकायें स्वतः ही सिद्ध हो जाती हैं। साधक संयम कहाँ करेगा इसको सोचने की उसको आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि साधक के उस अपने अभ्यास में उत्तर भूमियाँ अपने आप ही प्रगट होती रहेंगी। क्योंकि योगशास्त्र का ऐसा नियम है कि **योगिनो योगएवपाध्यायः** अर्थात् योगाभ्यासी के लिए योग ही उसका गुरू बन जाता है। साधक को तो केवलमात्र इतना रह जाता है कि वह अपने अभ्यास को बाकायदा बढ़ाता चला जाय। ज्यों–ज्यों अभ्यास को बढ़ाता चला जायेगा त्यों–त्यों उस परम गुरु की कृपा से उत्तर भूमिकायें उसके सामने प्रगट होती रहेंगी। क्योंकि योगाचार्यों का मत है कि योग से योग को जाने। योग से ही योग बढ़ता है। जो प्रमाद को छोड़कर योगाभ्यास करते रहते हैं वे अवश्य ही समाधि पद को प्राप्त कर लेते हैं।

* * *

सम्पादकीय

योग मार्ग में विघ्न एवं उनकी निवृत्ति के उपाय

मैंने पिछले माह के लेख में योगमार्ग के विघ्नों में स्त्यान नामक विघ्न के स्वरूप एवं इस विघ्न को हटाने के उपायों का वर्णन कर दिया था। अब इससे आगे के विघ्न **संशय** पर विचार करेंगे। यह विघ्न भी साधक के मार्ग का एक बहुत बड़ा शत्रु कहा गया है। संशय का अंकुर जब फूटता है तो साधक का मन डावांडोल हो जाता है। मैं योग साधन कर पाऊँगा या नहीं, क्या योग मार्ग कल्याण का मार्ग है ? क्या गुरुदेव में मुझे भव पार कराने की शक्ति है ? आदि–आदि विषयों पर साधक का मन जब शंकालु हो जाता है तो संशय नामक विघ्न बन जाता है। संशय होता तभी है जब श्रद्धा और विश्वास का अभाव हो। संशययुक्त मन हो जाने पर साधना के प्रति, मन्त्र के प्रति, गुरुदेव के प्रति साधक की भावना दृढ़ नहीं हो पाती। गीता में भगवान ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि साधक के जीवन में श्रद्धा होनी चाहिये तथा इसके साथ–साथ तत्परता एवं संयतेन्द्रिय होना भी बहुत ही आवश्यक है। इसके साथ ही अगले श्लोक में भगवान ने यह भी बताया है कि साधक में तीन बातें नहीं होनी चाहिये। वे हैं– **अज्ञश्च अश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति** अर्थात् साधक को अज्ञ नहीं होना चाहिये, अश्रद्धालु नहीं होना चाहिये तथा संशयात्मा नहीं होना चाहिये। यदि ये बातें साधक में होती हैं तो साधक अपने मार्ग से भ्रष्ट हो जाया करता है। इसलिये साधक के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है कि वह अज्ञ न हो विज्ञ हो अर्थात् योग सिद्धान्तों को समझने वाला हो, योग शास्त्रों का ज्ञाता हो। दूसरी बात साधक को अश्रद्धालु नहीं होना चाहिये। अश्रद्धालु योग मार्ग में बढ़ नहीं सकता क्योंकि योग प्रासाद का श्रद्धा ही नींव है। तीसरी बात है साधक संशयात्मा न हो। जब साधक संशयात्मा हो जाता है तो वह साधना से च्युत हो जाया करता है। पूज्यपाद गुरुदेव भगवान अपने श्रीमुख से प्रायः कहा करते थे कि एक गुरु भक्त के मन में तो किसी प्रकार का संशय रहना ही नहीं चाहिये। संशय आ जाने पर साधक साधना से हट जाया करता है। इस प्रसंग में गुरुदेव जी अपने एक बच्चे का उदाहरण दिया करते थे। सदानन्द नाम का एक बालक था। उसने लाहौर में गुरुदेव जी से योग दीक्षा प्राप्त की थी। गुरुकृपा से उसकी बहुत अच्छी ध्यान स्थिति चली। एक–बार वह एक बहुत प्रसिद्ध धर्म प्रचारक से मिलने गया। उनसे साधना

सम्बन्धी बातें हुईं। उन्होंने कहा—तुम्हें यह मन्त्र नहीं जपना चाहिये यह तो सन्यासियों को ही जपना चाहिये। ध्यान के विषय में उन्होंने कहा कि यह जो तुम्हें अनुभव होते हैं यह सत्य वस्तु नहीं है यह माया है आदि—आदि। वह साधक उनकी बातों में आ गया और ध्यानादि का अभ्यास छोड़ दिया। परिणाम स्वरूप उसकी सारी ध्यान स्थिति जाती रही। उसके सारे अनुभव समाप्त हो गये और उसका मन पुनः तमोच्छादित हो गया। इस प्रकार से संशयात्मा व्यक्ति दूसरों की बात को मान लेता है और अपने पथ से गिर जाया करता है। जहाँ गुरुदेव के प्रति पूर्ण श्रद्धा दृढ़ विश्वास एवं अटूट निष्ठा होती है वहाँ साधक किसी दूसरे व्यक्ति की बातों में नहीं आता। मन में श्रद्धा का होना प्राक्तन् पुण्य कर्मों का ही फल होता है। जब प्राक्तन संस्कार दुर्बल होते हैं तो समर्थ गुरुदेव की प्राप्ति हो जाने पर भी गुरु चरणों में प्रीति नहीं उपजती। जब पूर्व के पुण्य संस्कार प्रबल होते हैं गुरुदेव के प्रति शिष्य का समर्पण रहता है गुरुदेव भी उसके पुण्य के कारण उसकी ओर आकृष्ट रहते हैं। पूज्यपाद गुरुदेव जी कहा करते थे कि "जब इस प्रकार का गुरुशिष्य के परस्पर आकर्षक का संयोग मिलता है तो उस समय साधक को अत्यन्त विनीत हो जाना चाहिये और गुरुदेव से बड़ी से बड़ी वस्तु प्राप्त कर लेनी चाहिये।"

योग मार्ग के विघ्न के रूप में जिस संशय की बात की जा रही है वह संशय वस्तुतः अपनी साधना एवं गुरुदेव के विषय की ही है। संशय का सम्पूर्णता से नाश करना योग साधना का लक्ष्य है। यह सारी सृष्टि रहस्यों व संशयों से भरी हुई है। एक संशय का निवारण होता है दूसरा संशय खड़ा होता है। इस प्रकार से जीवन में संशयों की एक बड़ी लम्बी श्रृखंला हो जाती है। संशयों का समाधान जिसमें होता है उसे ही समाधि कहा जाता है। गीता में भगवान अर्जुन से कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु

अर्थात् हे अर्जुन—अनन्य प्रेम से मुझमें आसक्त चित्त वाला तथा अनन्य भाव से मेरे परायण होकर योग में लगा हुआ तू जिस प्रकार सम्पूर्ण योगेश्वर्ययुक्त मुझ आत्मरूप को संशय रहित जानेगा उस विज्ञान को तू सुन। इस प्रकार कहकर भगवान ने इस बात का संकेत कर दिया है कि योग विज्ञान की पूर्णता को पा जाने पर ही भगवान को संशयरहित होकर जाना जा सकता है। उपनिषदों में भी इसी बात की ओर संकेत किया गया है कि जब तक आत्मदर्शन या परावर दर्शन नहीं होता तब तक संशयों का नाश नहीं होता—

उपनिषद् का लेख है—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

अर्थात् परावर दर्शन या आत्म दर्शन के हो जाने पर हृदय ग्रन्थि टूट जाती है। सब प्रकार के संशयों

का नाश हो जाता है। योगी के सम्पूर्ण कर्म जल जाते हैं। इस प्रकार से वह योगी जीवन मुक्त हो जाया करता है। इस प्रकार से सम्पूर्ण संशयों का नाश आत्मदर्शन के पश्चात ही होता है। योग के विघ्न के रूप में वर्णित संशय इस प्रकार से तात्विक संशय से भिन्न है। वहाँ पर जिस संशय की बात आती है वह साधना तथा गुरुदेव की निष्ठा से ही सम्बन्ध वाला होता है। चुने हुये साधन मार्ग तथा सद्गुरु के प्रति पूर्ण आदर समर्पण में जब कमी रह जाये तो मानना चाहिये अभी संशय का प्रवेश बना हुआ है। इसलिये ही जो सर्वोत्कृष्ट अधिकारी माने जाते हैं उनमें पहला लक्षण गुरुनिष्ठा की कही जाती है। पूर्ण गुरु निष्ठा होने पर सब प्रकार के संशय एवं अज्ञान गुरु कृपा से हटते जाते हैं **गुरोस्तु मौनम् व्याख्यानम् शिष्यास्तु छिन्न संशया:** के नियम के अनुसार गुरुदेव अपने ईशत्व वशित्व आदि शक्तियों के आधार पर शिष्यों के संशयों का हरण करते रहते हैं। संशय रजोगुण तमोगुण में रहा करता है जब सतोगुण का पूर्ण विकास हो जाता है तो उस प्रकाश में अज्ञान व मोहजन्य संशय नहीं टिका करता। योग मार्ग में आने वाले संशयों के निवारण हेतु ही गुरु के स्थूल देह की आवश्यकता होती है। योग मार्ग के विघ्न के रूप में आये संशय को दूर करने का उपाय एकमात्र सत्संग है।

सत्संग के अन्तर्गत कई बातों का समावेश होता है। सत्संग का पहला रूप है गुरुदेव के चरणों में रहकर गुरुमुख से सिद्धान्त श्रवण करना तथा उस पर विचार करना। दूसरे प्रकार का सत्संग शास्त्राध्ययन है योग शास्त्रों के अध्ययन से योग विद्या की महिमा का ज्ञान होता चला जाता है। संशय दूर होते चले जाते हैं। जो स्वयं शास्त्राध्ययन नहीं कर सकते उन्हें दूसरे से सिद्धान्त सुनकर मनन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक श्रेणी के साधकों को अधिकाधिक गुरु आश्रम में पहुँचकर अपने से वरिष्ठ गुरु भाईयों तथा ध्यानियों से भी योग मार्ग की महिमा एवं गुरु तत्व की चर्चा सुननी चाहिये। योग साधकों को ऐसे ही लोगों का संग करना चाहिये जो उसके योग संस्कारों को दृढ़ बनाने में सहायक हों तथा जिनके संग से गुरु भक्ति बढ़े। आनन्द कन्द श्री प्रभु जी वर्णित नियमानुसार योग साधक को योग के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के सत्संग में नहीं जाना चाहिये। साधक को उन्हीं उपायों का सहारा लेना चाहिये जिससे उसकी श्रद्धा व निष्ठा में निरन्तर बढ़ोत्तरी होती चली जावे। जहाँ मन में श्रद्धा बढ़ जाती है वहाँ किसी प्रकार का संशय नहीं रहता। साधक निर्विघ्न अपनी साधना में चल पड़ता है। गुरुदेव के ध्यान करने से योग मार्ग में आने वाले सभी विघ्न हट जाया करते हैं। इसलिये साधक को परम तत्व गुरुदेव का चिन्तन करते हुये अपनी साधना में लगे रहना चाहिये। ध्यान योग ही सब संशयों को हटाने का मूल साधन है।

* * *

किमस्ति योगः

रचनाकार : **द्वारकाप्रसाद शर्मा**, लखनऊ।

स्मृत्वा गुरूणां चरणारविन्दौ, समारभेऽहं नवनूतनानि।
त्रीण्येव सूत्राणि पुनर्गृहीत्वा, यथापूर्वं मेवाभिहितानि श्लोकै·

'किमस्ति योगः' शीर्षक से समारब्ध यह एकादशी श्रृंखला (ग्यारहवीं कड़ी) है। महर्षि पतञ्जलि प्रणीत योगदर्शन के द्वितीय पाद (साधन–पाद) के अन्तर्गत प्रस्तुत लेख में पुनः पूर्ववत कतिपय सूत्रों को ग्रहण करते हुए उनको श्लोकबद्ध कर व्याख्यायित करने का प्रयास किया जा रहा है। इस बार जिन तीन सूत्रों को लेकर व्याख्या अभीष्ट है, वे निम्नांकित हैं–

(१) अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनु विच्छिनोदाराणाम्।

(२) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

(३) ह्रदर्शनयोरेकात्मतेवास्मिता।

अब इसके अनन्तर प्रथम श्लोक लिखा गया है और उसके पश्चात् उसके नीचे हिन्दी भाषा में उसे रूपान्तरित किया गया है।

श्री गुरू के चरणारविन्दों का स्मरण कर अब मैं नवीन तीन सूत्रों को लेकर यथापूर्व श्लोकानुबद्ध रूप में पुनर्लेखन आरम्भ कर रहा हूँ।

(१) यथा पंचक्लेशाः समुदाहृताः प्राक्, त एव सन्तीह चतुर्विधास्ततः।
प्रसुप्त नामा प्रथमस्तु व्याहृतः, तनूरूप एवास्ति द्वितीय रूपः।।

इससे पूर्व पञ्चप्रकार के क्लेशों का उल्लेख आ चुका है। अविद्या को छोड़ते हुए चारों क्लेशों को चार रूपों में बतलाया गया है पहला है **प्रसुप्त** और दूसरा है **तनु**। इनको अग्रिम श्लोकों में समझाने का प्रयास किया गया है।

(२) विच्छिन्नरूपे तु तृतीय आस्ते, चतुर्थरूपे तदुदार एव।
अज्ञान मे वास्ति हि मूल कारणं, चतुर्विधानां ननु क्लेशकाणाम्।।

उसका तृतीय रूप है– विच्छिन्न और चतुर्थ रूप उसका है–उदार। इन सबका अर्थात

चारों प्रकार के क्लेशों का मूल कारण अविद्या अथवा अज्ञान ही हैं अविद्या अथवा अज्ञान ही समस्त क्लेशों की जननी है।

(३) प्रसुप्त क्लेशों हृदि विद्यमानः, स्वकीय कार्यं न तनोति तावत्।
यथाऽर्भके यद्यपि कामवासनाः, तथापि किं तास्तु–प्रसुप्तवन्न।।

'प्रसुप्त' संज्ञक यह क्लेश चित्त में विद्यमान रहा करता है। यह उत्थित न रहकर प्रसुप्त अर्थात् सोया हुआ या दबा हुआ रहा करता है। वह उसी प्रकार है जिस प्रकार एक अल्प वयस् के बालक में काम की वासनायें यद्यपि विद्यमान तो अवश्य हैं परन्तु वे उसकी उस अवस्था में प्रसुप्त रूप में ही पड़ी रहती हैं।

(४) क्रियायोगमाश्रित्य तनुतां भजन्ते, या वृत्तयस्ता अपि वर्तमानाः।
स्थितिं तादृशीं तावदेव यान्ति, यावन्तु ज्ञानस्य प्रकाश एव।।

कुछ क्लेश ऐसे हुआ करते हैं जो सच्छास्त्राध्ययन, ध्यान, धारणा अथवा मनन–चिन्तन आदि क्रिया योगों के आश्रय से तनु (हलके) तो हो जाते हैं–परन्तु उनकी वैसी स्थिति तब तक बनी रहा करती है जब तक व्यक्ति विशेष में ज्ञान का प्रकाश व बोध जीवन्त बना रहता है।

(५) इत्थं कदाचित् समुपागते वशे, रागस्य, लूप्तो भवतीह द्वेषः।।
विच्छिन्न संज्ञो समुदाहृता सा, वृत्तिर्महर्षि, प्रवरेण तावत्।।

अब विच्छिन्न संज्ञा के क्लेश का निरूपण करते हुए बतलाया जा रहा है कि कभी कभी जब कोई व्यक्ति विशेष रागग्रस्त हुआ करता है तब उसके अन्दर विद्यमान राग का विपर्यय द्वेष भी यद्यपि विद्यमान तो रहा करता है परन्तु उस कालावधि में वह विलुप्त रहता है। इसी को विच्छिन्न (अलग सा हुआ) नामक संज्ञा दी गई है महर्षिवर पतञ्जलि द्वारा।

(६) यदा सहायैर्विषयैः समेत्य, बलवन्तमाःस्युः विषयाः कदाचित्।।
उदारभावन्तु समाश्रितास्ते, उदारसंज्ञाभिहितास्तु क्लेशाः।।

कभी–कभी सहायक विषयों को साथ लेकर मुख्य विषयाधीन प्रसंग अत्यधिक बलशाली

हो जाया करते हैं। उस समय ये उदार भाव को प्राप्त हो जाते हैं अतः इनकी इस रूप में उदार संज्ञा नाम से परिकल्पना की जाती है।

(७) एवं चतुर्धाविवृतास्तु क्लेशाः, अज्ञानतस्त्वेव भवन्ति सर्वे।
चतुर्षु क्लेशेषु यथोक्त पूर्वं, अविद्यया जायते सर्वमेव।।

इस प्रकार जिन चार प्रकार के क्लेशों का विवरण दिया गया है ये सब अज्ञान से ही हुआ करते हैं। जैसा कि इससे पूर्व भी उल्लेख किया गया है समस्त क्लेशों का उद्भव 'अविद्या' अथवा अज्ञानवशात् ही होता है।

(८) का सा अविद्या ननु वर्ण्यते सा, सूत्रेऽग्रिमे योगविदा महर्षिणा।
अनित्ये हि नित्यत्वमशुचौ शुचित्वं, दुःखे सुखं नात्मनि सात्मकल्पना।।

वह 'अविद्या' क्या है, उसे बतलाया जा रहा है योग वेत्ता परमर्षि पतञ्जलिजी द्वारा अग्रिम सूत्र में। वह अविद्या है अनित्य वस्तुओं या पदार्थों में नित्य वर्तमान रहने की भावना कर लेना। जो अपवित्र पदार्थ हैं उनमें पवित्रता की भावना कर लेना, दुःख में सुख की परिभावना करना तथा अनात्म पदार्थों में आत्मत्व की परिकल्पना करना। इन सबका विवेचन आगामी पंक्तियों में देखेंगे।

(९) विनाशशीलं हि समस्तजातं तथापि तत्रास्ति हि नित्यभावना।
एतद्धि भणितं मुनिना विचार्य, अनित्य भावेषु हि नित्यभावना।।

यह समस्त दृश्यजात पदार्थ विनाशशील है तथापि हमारी बुद्धि इन्हें नित्य मान लेती है। मुनिवर ने इसी बात को अत्यन्त विचारपूर्वक कहा है कि अनित्यत्व में नित्यत्व की भावना ही अविद्या का लक्षण है।

(१०) अपूतजातेषु हि नारिजातिषु, ज्ञात्वैव यावत्क्रियते सुकल्पना।
मलमूत्र मज्जामय मांस निर्मिते, शरीरेऽपवित्रे हि पवित्रभावना।।

अपवित्र तत्वों मलमूत्र मज्जा, मांस आदि से बने हुए नारी में सौन्दर्य की तथा कल्पित देह की भावना करना ही एक अपवित्र पदार्थ में पवित्रता की भावना कर लेना, इसका सुन्दर

निदर्शन है।

(११) दुःखालयं निगदितं भवमेव सर्वं, तदीयभोगेषु विषज्जते पुमान्।
भोगांस्तु भुक्त्वा विषवत्तु विषयान्, सुखानुभूतिं तु करोति तेषु।।

यह समस्त संसार भगवद्वचनानुसार भी दुःखालय और अशाश्वत कहा गया है। तथापि मनुष्य उनके भोगों में आसक्त बुद्धि वाला देखा जाता है। विष के समान विषय–भोगों को भोगकर उनमें सुख एवं तृप्ति की अनुभूति किया करता है। यही है दुःख में सुख में सुख की प्रतीति का उदाहरण व लक्षण।

(१२) एवं हि चित्तेन्द्रिय वस्तुनिजडे, यदा वर्तत आत्मवत्वात् पुमानिह।
अनात्मभूतेषु तदात्मवत्त्वं, एतद्धि मणितं मुनिना स्वसूत्रे।।

चित्त व इन्द्रियाँ जड़ पदार्थ हैं। आत्मा–चैतन्य तत्व के संयोग से इसमें उसी आत्मत्व की परिकल्पना कर उन्हें सत्य मान व्यवहार किया जाता है। इसी को अनात्म पदार्थों में आत्मत्व की परिकल्पना कहा है मुनिश्रेष्ठ पतञ्जलि ने।

(१३) अतः, परं सूत्रमेकं प्रगृह्य, पतञ्जलिः श्रीः कथने प्रवृत्तः।
का अस्मितो सा च करोति किं सा, तदेव व्याख्यातुमिहास्ति सूत्रम्।।

अब पतञ्जलि महामुनि अगले सूत्र में 'अस्मिता' क्या है, उसका क्या कार्य है, बतला रहे हैं।

(१४) दृग्शक्ति युक्तः पुरुषस्तु द्रष्टा, बुद्धिस्तु दृश्यं परिभाव्यते तत्।।
चैतन्य रूपः पुरूषो विराजते, जडाऽस्ति बुद्धिर्भणिता तदा वै।।

दर्शन शक्ति से युक्त यह पुरुष द्रष्टा है मात्र, परन्तु आत्मसंयोग से यह जड़बुद्धि उस दृश्यजात को देख देख परिभावना किया करती है। अर्थात आत्मतत्व चैतन्य है पर द्रष्टा–साक्षी है जबकि बुद्धि जड़ होकर भी चैतन्यांश के प्रकाश से ही दृश्यजगत् में रमण करती है।

(१५) क्रियादिरहितः पुरुषस्तु कथ्यते, क्रियावती सैव बुद्धि रिहात्र।
त्रैगुण्यरहितः पुरुषः प्रसिद्धः, बुद्धिस्तु तत्रास्ति त्रयीगुणान्विता।।

पुरुष अथवा आत्मा को क्रियादि से रहित तथा त्रिगुणों के प्रभाव से भी रहित कहा गया है। परन्तु यह बुद्धि ही कार्यशीला बनी तीनों गुणों के प्रभावों के अधीन कार्य करती रहती है।

(१६) पुरुषस्तु स्वामी भवतीह सर्वश:, चित्तं समाचरति सेवक वत्तु तस्य।
विकार रहितो गदित: स पूरुष:, चित्तं विकार सहितं समुदाहृतं सदा।।

पुरुष अथवा आत्मा का आचरण तो एक स्वामी के समान है और यह चित्त उसका सेवक है। पुरुष नित्य ही विकाररहित है जबकि चित्त को सदैव विकार युक्त कहा जाता है।

(१७) एवं द्वयोर्भिन्नतामेत्य सत्योर्नज्ञायते भिन्नयोर्भिन्नता वै।
हेतु रिहास्ते तदविद्ययैव, सैवास्मिता सा हृदयस्य ग्रन्थि:।।

दोनों तत्वों में असमानतायें होते हुए भी भिन्न-भिन्न पदार्थों में अभिन्नता के दर्शन को ही अस्मिता कहा जाता है। इसका मूल कारण अविद्या है। इसे ही हृदय ग्रन्थि कहा गया है।

(१८) विवेकख्यातेरुदयो यदा स्यात्, क्लेशोऽस्मिताया: शिथिलायते तदा।
ज्ञानोदयात् भवति चेतसि सुप्रकाश:, ग्रन्थिस्तु हृदयस्य विनाशमेति।।

विवेकख्याति का जब उदय हो जाया करता है तो अस्मिता का क्लेशबन्धन ढीला पड़ जाता है। ज्ञान के उदय होते ही चित्त सुन्दर प्रकाश से आलोकमान हो जाया करता है। और हृदय की ग्रन्थि का भी विनाश हो जाता है।

(१९) श्री गुरूणां प्रसादादिद्ध, सर्वं लिखितं च ख्यापितम्।
निवेद्य प्रमुचरणेषु, विरमामि नमामि च ।।

उक्त समस्त श्री गुरु चरणों की कृपा प्रसाद से ही लिया गया है। उन्हीं श्री चरणों में प्रणाम करते हुए तथा उन्हें ही अर्पण करते हुए यहां लेखन से विराम पा रहा हूँ।

जय श्री गुरुदेव !

'मृत रजकण'

राजेन्द्र प्रसाद पाठक

शास्त्र, जल (खान, पान), प्रजा (संग), स्थान, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार ये दस वस्तुयें यदि सात्विक हैं तो सत्व गुण, राजसी हों तो रजोगुण की और तामसी हों तो तमोगुण की वृद्धि मानी गयी है किन्तु क्षणिक जीवन में लिप्सा के अन्तर्गत मनोबल बड़ा ही व्यापक हो बैठता है श्री मद्भागवत महापुराण में तो गुणों की विस्तृता के हेतु के बारे में बताया है कि

आगमोऽयः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुण हेतवः।।

रज का अर्थ बाधा, बताया गया है जीवन के अन्तर्गत अनन्त इच्छायें, अन्तर्गत मन में इतना व्यापक स्थान बनाती हैं कि (जब) मनोबल में उच्च लिप्सा बढ़ जाता है तो उच्चाकांक्षा जीवन की जैवन्य स्थिति को दुर्बल बनाने में सहायक बन बैठती है। किन्तु योगी जन किसी भी प्रकार की उच्च अभिलाषा की कामना न कर एक तरह से ऐसे राजकण का परिपालन करते हैं कि वह मृत रजकण के समान ही है। वास्तव में सत्व, रज, तम—ये तीनों गुण अविनाशी देही को देह में बाँध देते हैं पर यह सारा संसार तीनों गुणों से ही मोहित है फिर भी इस निष्कर्ष को नकारा नहीं जा सकता कि सात्विक, राजस और तामस— ये तीन ही तीन प्रकार के कर्म का रूप खड़ा करते हैं। प्रकृति के ये पक्ष का कर्ता ही क्रिया, कर्म आदि का निरूपण करते हैं। यदि उर्द्धगति के लिये सत्वगुण की प्रधानता मानी गयी है तो भी रजोगुण और तमोगुण को नकारा नहीं जा सकता। साथ ही साथ मध्य गति के लिये रजोगुण की प्रधानता मानी गयी। पर सत्वगुण और तमोगुण को भी स्थान दिया गया। अधोगति के लिये तमोगुण की प्रधानता मानी गयी पर सत्वगुण और रजोगुण ने अपना यथास्थान रूप बना ही लिया। इसीलिये पशु पक्षी आदि में तथा भूत–प्रेत गुह्यक आदि में और नरकों के प्राणियों में भी भिन्न–भिन्न स्वभाव होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ किसी भी गुण के साथ सम्बन्ध है वहाँ ये तीनों गुण विद्यमान हैं।

'मृत रजकण'—तीन शब्द सोपानों से मिश्रित हैं जहाँ रज का अर्थ है—बाधा तथा कण का भाव है सांसारिक लिप्सा (इच्छा) एवं मृत का भाव है 'मरा हुआ'। अर्थात् प्रकृति प्रदत्त इच्छानन्तर जब व्यक्ति (जीव) विशेष की युगुप्सा समाप्त होकर देह पले और शुद्ध, पवित्र सन्निध्यता सम्प्राप्त हो जाय तो वहाँ मृत रज कण का भाव साकार होना बताया गया है। यह तभी सम्भव है जब हम अपनी अनन्त इच्छाओं को सिमेटें और सम्बन्ध बनने पर लिप्सा को कम करें। इन तत्वदर्शी बातों के लिये श्री प्रभु जी के द्वारा सम्पादित 'सिद्धयोग' में मधुरतम वाणी, दिव्यतम रूप से विवेचित हैं जिनमें अनेकानेक विद्वान–ज्ञान–गंग–तरंग–सम्मिलित रूप से ग्राह्य परक है।

निदान, कर्मान्तर्गत सदाचार और दुराचार तो प्राणियों के किये हुये कार्य हैं। मूल में तो वे प्राणी सदा

भगवान के शुद्ध अंश है अतः सम्पूर्ण प्राणियों में भगवान की व्यापकता और कृपा समान है। परन्तु प्राणी अपने दुराचार के कारण ही भगवान में रूचि नहीं प्राप्त कर पाता। यदि किसी कारण वंश जीव विशेष की रुचि हो जाय तो श्री प्रभु कहते हैं कि —भगवान उनके किये हुये को न देखकर उनको स्वीकार कर लेते हैं।

"रहति न प्रभु चित चूक किये की।
करत सुरति सय बार हिये की।। मानस ।।

जैसे माँ अपने बालकों के सदाचार या दुराचार पर ध्यान न देकर, अपने हृदय से समान सम्बन्ध रखती है और उसे विषम परिस्थिति में पाकर द्रवीभूत हो बैठती है—**"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"** जैसा भाव माँ के लिये व्यक्त किया गया है पर माँ का सम्बन्ध तो केवल एक जन्म में एक शरीर से ही होता है—श्री प्रभु तो सदा रहने वाली माँ है। प्रभु जी का हृदय तो प्राणी मात्र पर सदैव द्रवित रहता है। प्राणी निमित्तमात्र भी श्री प्रभु जी की शरण हो जाय तो प्रभु विशेष द्रवित हो जाते हैं। वेद कहते हैं कि

जौ नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन ताकि मोदी।।
तजिनद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना।

मानस ५/४८/१–२।।

अतः मनुष्यांतर्गत रज से व्याप्त—मद, मोह, कपट, नाना छल आदि दोषों की तरफ न देखकर मैं (श्री प्रभु) उसको (मनुष्य जीव को) जल्दी साधु (मृत रजकण) बना लेता हूँ। यदि जीव को कहीं आश्रय न मिले तो भयभीत होकर मेरा ही आश्रय लेकर मेरे शरण हो जाय। इस प्रकार एक 'कृति' होती है और एक भाव होता है। कृति में बाहर की क्रिया होती है और भाव तो भीतर होता है। भाव के पीछे उद्देश्य होता है और उद्देश्य के पीछे भगवान की तरफ अनन्यता होती है क्योंकि वह अजेय (स्वयं की) होती है और उस अन्यन्यता के सामने कोई दुराचार टिक ही नहीं सकता। वह अनन्यता दुराचारी से दुराचारी पुरुष को भी बहुत जल्दी ही पवित्र कर देती है वास्तव में पद जीव परमात्मा का अंश होने से पवित्र तो है ही। केवल दुर्भावों और दुराचारों के कारण ही इसमें अपवित्रता मानी है। श्री भगवान ने बताया कि—'जो मनुष्य अन्त समय में जिस—जिस भाव का स्मरण करते हुये शरीर छोड़ कर जाता है उस—उस भाव को वह प्राप्त होता है।" इस तरह मनुष्य को जिस किसी भाव का स्मरण करने में जो स्वतन्त्रता दी गयी, इससे मालुम होता है कि भगवान ने मनुष्य को पूरा अधिकार दिया है अर्थात् मनुष्य के उद्धार के लिये भगवान ने अपनी तरफ से यह अन्तिम जन्म दिया है, अब इसके आगे यह नये जन्म की तैयारी कर ले अथवा अपना उद्धार कर ले। अतः कहा कि—

नर तन सम नहि कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत देही।।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान विराग भगति सुभदेनी।।

(मानस ७/१२१/५)

श्री भगवत् महापुराण ग्यारहवें स्कन्ध के बीसवें अध्याय श्लोक सत्तरहवें में स्पष्ट कह दिया कि—यह

मनुष्य शरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर अनायास सुलभ हो गया है इस संसार सागर से पार होने के लिये यह एक सुदृढ़ नौका है, जिसे गुरु रूप नाविक चलाता है और मैं (भगवान) वायुरूप, होकर इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने में सहायता देता हूँ। इतनी सुविधा होने पर भी जो मनुष्य इस संसार सागर से पार नहीं होता, वह अपनी आत्मा का हनन करने वाला अर्थात पतन करने वाला है। यथा

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।।
मायानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान भवाब्धिं न तरेत स आत्म हा।।

श्री मद्भागवत् ११/२०/१७

तात्पर्य यह है कि जो किसी भी कर्म और फल के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखता वह त्यागी है जब तक मनुष्य कुशलाकुशल के साथ अच्छे मन्दे के साथ अपना सम्बन्ध रखता है तब तक वह त्यागी नहीं है यह पुरुष जिस प्राकृत क्रिया और पदार्थ को अपना मानता है, उसमें उसकी प्रियता हो जाती है। उसी प्रियता का नाम है—**'आसक्ति'** यह आसक्ति ही वर्तमान के कामों को लेकर **'कर्मासक्ति'** और भविष्य में मिलने वाले फल की इच्छा को लेकर **'फलासक्ति'** कहलाती है। जब मनुष्य फल—त्याग का उद्देश्य बना लेता है तब उसके सबकर्म संसार के हित के लिये होते हुये मृत रजकण' परिपालन में ही जुट जाते हैं परन्तु **'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्य शेषतः'** को भी ठुकराया नहीं जा सकता।

* * *

गुरुपूर्णिमा महोत्सव

गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी श्री सिद्धगुफा आश्रम संवाई (एत्मादपुर) आगरा पर गुरुपूर्णिमा महोत्सव का आयोजन आषाढ़ शुक्ल १५ संवत् २०५५ दिन गुरुवार, ९ जुलाई १९९८ को किया जा रहा है। इस अवसर पर समस्त गुरु भाई बहिन व श्रद्धालु भक्तगण सस्नेह आमंत्रित हैं।

माया

—डा. जयनारायण (लखनऊ)

वेदान्त की आधार शिला **माया** पर स्थापित है। सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में 'माया, शब्द का प्रयोग कुहक के अर्थ में होता था क्योंकि उस समय असल मायावाद–तत्व का उदय नहीं हुआ था। इस प्रकार वेद में **'इन्द्रोमायाभि: पुरुरुप ईयते**, वाक्य पाते हैं जिसका तात्पर्य है— इन्द्र ने माया द्वारा नाना रूप धारण किये'। वेद के अनेक स्थलों में माया शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में होता था। इसके बाद कुछ समय तक माया का व्यवहार एकदम लुप्त हो गया।

माया विषयक धारणा का स्थिर रूप **'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'** के कथन से इंगित है जिसका अर्थ है 'माया को ही प्रकृति समझो और मायी को महेश्वर जानो'। इस प्रकार माया के तत्व का निरुपण उपनिषदों में स्पष्टरूप से हुआ। वहीं संहिताओं में माया के तत्व का अस्पष्ट रूप किसी न किसी आकार में विद्यमान है।

अज्ञान या नाम, रूप को ही माया कहते हैं। यह माया ही भिन्न–भिन्न व्यक्तियों का सृजन करके उनमें आपस में वार्वक्य का बोध कराती है। पर वास्तव में इसका अस्तित्व नहीं है। माया, रूप या आकृति का आस्तित्व है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह तो दूसरे के अस्तित्व पर निर्भर रहती है। उसका अस्तित्व नहीं है; यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसी ने तो यह सारा भेद उत्पन्न किया है।

चाहे पदार्थ कहो, चाहे मन, चाहे आत्मा, चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारो, बात एक ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये सब है, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये सब नहीं है। इन सबको एक भी नहीं कहा जा सकता और अनेक भी नहीं। यह प्रकाश और अन्धकार का खेल, नानाविध दुर्बलता, अविभक्त, अपृथक, और अविभाज्य मिश्रण जिसमें सारी घटनायें कभी सत्य मालूम होती हैं, कभी मिथ्या–सदा से चल रहा है इसके कारण लगता है कि हम जागृत हैं कभी लगता है कि सोये हुये हैं। बस यही माया है, यही वस्तुस्थिति है। इस माया में सभी लोग जन्म लेते है, इसी में जीवित रहते हैं और इसी में सोच–विचार करते हैं। इसी माया में कोई दार्शनिक है, कोई साधु है। यहाँ तक इसी माया में लोग कभी दानव और कभी देवता बन जाते हैं विचार के रथ पर चढ़ कर चाहे जितनी दूर जाओ, अपनी धारणा को ऊंचे से ऊंचा बनाओ, उसे अनन्त या जो इच्छा हो, नाम दो पर तो भी हम सब माया के भीतर है। इस प्रकार मनुष्य का जो कुछ ज्ञान है, वह बस माया का ही साधारण भाव है। इस माया के दिखने वाले रूप का ज्ञान ही सारे मानवी ज्ञान की सीमा है यह माया नाम, रूप का कार्य है। जिस किसी वस्तु का रूप है, जो भी कुछ हमारे मन में किसी प्रकार के भाव का उद्दीपन होता है, वह सब माया के अन्तर्गत है।

मानव जन्म इस संसार में महिमा एवं ऐश्वर्य से मण्डित नहीं हो पाता है बल्कि मनुष्य अपने पीछे कुहरे की कालिमा लेकर ही जगत में प्रवेश करता है। इस प्रकार लोगों को रोते–रोते इस संसार में आना न छोड़ते

हुये मार्ग उन्हें बनाना पड़ता है और जीवन भर चलते रहना होता है। अन्त में मृत्यु आकर उसे इस संसार से उठा ले जाती है—

विजयी अथवा पराजित कुछ भी निश्चित नहीं। यही माया है। इसी को लक्ष्य करके श्री कृष्ण भगवान ने अर्जुन से कहा **''दैवी ह्येषा गुणमयी मम् माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।**

अर्थात् मेरी यह दैवी त्रिगुणमयी माया बड़ी मुश्किल से पार की जाती है। जो मेरी शरण में आते हैं, वे इस संसार से पार हो जाते हैं''। यह अभय वाणी है कि समस्त कुछ नहीं, केवल माया है, और साथ ही आशाप्रद वाक्य है कि माया के बाहर जाने का मार्ग भी है।

देश और काल माया के भीतर हैं। मार्ग भी इस पृथ्वी के समान ही देश—काल की सीमा से बद्ध है। यह भाव उपनिषदों के निम्नलिखित श्लोकांश में व्यक्त किया गया है— **यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह:**— 'जो कुछ यहाँ है, वह वहाँ है; जो कुछ वहाँ है, वही यहाँ भी है।। यदि ये देवता है, तो जो नियम यहाँ है, वही वहाँ भी लागू होगा। सभी नियमों का चरम उद्देश्य है— विनाश और बाद में नये—नये रूप धारण करना। इस नियम के द्वारा सभी जड़ पदार्थ विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो रहे हैं। जिस किसी वस्तु की उत्पत्ति है, उसका विनाश होता ही है। अतएव यदि स्वर्ग है, तो वह भी इसी नियम के अधीन है।

वास्तविक शक्ति एक है, केवल माया में पड़कर अनेक हो गयी है। अनेक के पीछे मत दौड़ो, बस उसी एक की ओर ही अग्रसर होवो। इस तथ्य की पुष्टि कठोपनिषद् के निम्न श्लोकों से होती है :—

''अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरुपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरुपो बहिश्च।।
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरुपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरुपो बहिश्च।। *(कठ. अ. २ वल्ली २, श्लोक ९—१०)*

अर्थात् जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में प्रविष्ट होकर बाह्य वस्तु के रूपभेद से भिन्न—भिन्न रूप धारण करती है, उसी प्रकार सब भूतों की वह एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस—उस वस्तु का रूप धारण किये हुये है, और सबके बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वायु जगत में प्रविष्ट होकर नाना वस्तुओं के भेद से तत्तद्रूप हो गयी है, उसी प्रकार सब भूतों की वही एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस—से रूप की हो गयी है और उसके बाहर भी है।

संसार रूपी माया से छुटकारा पाने के लिये वैराग्य—भाव होना आवश्यक है। वेदान्त में वैराग्य का अर्थ है 'जगत को ब्रह्म रूप देखना,। जगत् को जिस भाव से देखा जाता है, जैसा जाना जाता है और जैसा प्रतिभासित होता है, उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानना तथा उसका त्याग करना श्रेयस्कर है। इसी कारण सबसे प्राचीन उपनिषद् **'ईशोपनिषद्'** में पाते हैं—**'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।** (ईशावास्योपनिषद् श्लो—१) अर्थात् जगत् में जो कुछ है, उसे ईश्वर से ढक लेना होगा। समस्त जगत् को ईश्वर से ढक लेने का तात्पर्य

है कि जगत् के अशुभ और दुख–कष्ट के प्रति आँखें मीच कर नहीं बल्कि सब कुछ मंगलमय है, सुखमय है अथवा सब कुछ भविष्य के मंगल के लिये है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में ईश्वर दर्शन करना यानी संसार में वैराग्य रखना मुख्य भाव है।

यहाँ तक काम्य वस्तु के उपभोग से वासना की निवृत्ति नहीं होती, वरन् घृताहुति के द्वारा अग्नि के समान वह तो और भी बढ़ जाती है। यथा

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

इन्द्रियों में आसक्त होना अत्यन्त सहज है। मृत्यु कभी भी सत्य नहीं है। मृत्यु से अतीत होने के लिये वैराग्य यानी त्याग भाव आवश्यक है। माया के कारण ही मैं (Ego) चरमबिन्दु पर पहुँचता है, जो मनुष्य के आत्म सत्ता को विनष्ट कर देता है। अतः मैं, (Ego) के नाश के लिये वैराग्य भाव परमावश्यक है। इसका प्रतिफल यह होगा कि माया से विरत आत्मा अपने स्वाभाविक रूप सत्–चित्–आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाता है यह आत्मा का जन्म सिद्ध अधिकार है।

सभी प्राणियों में अवस्थित आत्मा नेत्र या किसी अन्य इन्द्रिय के समक्ष प्रकाशित नहीं होती है। किन्तु जिसका मन पवित्र हुआ है, वे ही उसे देख पाते हैं। आत्मा शब्द, स्पर्श, रूप रस व गन्ध से अतीत है, अपरिणामी है, उसको जो प्राप्त करते हैं, वे मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं। अन्ततः नाम रूप माया के वैराग्य (त्याग) से आत्मा की स्वानुभूति से परमात्म–साक्षात्कार सहज हो जाता है।

* * *

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।

(गीता ६/२८)

जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है, जो प्रपञ्च से रहित है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है—ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को अत्युत्तम आनन्द प्राप्त होता है।

विश्ववन्द्य सद्गुरु देव

योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

—राधेश्याम तिवारी—

परम करुणार्णव परमशिव सद्गुरु सत्ता की अभिव्यक्ति समय—समय पर होती रहती है। कलिकाल भी इस नियम का अपवाद नहीं है। कलियुग में चतुर्दिक धर्म का ह्रास हो रहा है पाश्चात्य व पैशाचिक सभ्यता का साम्राज्य निरन्तर फैल रहा है। परिणाम स्वरूप आज चारों ओर अनाचार, झूठ, कपट, धोखा एवं हिंसा ही व्याप्त हो रही है। सामाजिक ढाँचा बिगड़ता जा रहा है। समानता के नाम पर मातृशक्ति में स्वच्छन्द वृत्ति, शालीनता एवं लोकलाज का अभाव हो गया है। उनकी आने वाली सन्तान भी उन्हीं संस्कारों से भावित हो अधर्म में प्रवृत्त हो रही है। इन सब का परिणाम यह है कि सर्वत्र, दुःख, नाना प्रकार के रोग एवं अशान्ति ने मानव को पूरा—पूरा घेर लिया है। सुरसा के मुख की तरह मनुष्य की पाप प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। किन्तु, प्रभु दयामय हैं। उन्होंने भी अपनी करुणा बढ़ा ली है अपने संस्कारी बच्चों व भक्तों के कष्ट हरण एवं उद्धार के लिये सदा तत्पर रहते हैं। यद्यपि कलियुग में जीवों के क्षीण पुण्यों के कारण वे प्रभु को अवतार के लिये विवश नहीं कर सकते। गुरुदेव योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज अपने श्री मुख से कहा करते थे कि कलियुग में तुम लोगों के पुण्य इतने नहीं थे कि तुम श्री प्रभु जी तक पहुँचते या उन्हें अपने पास आने को विवश कर सकते थे। तुम लोगों को अल्पशेष पुण्यों के बावजूद भी श्री प्रभु जी ने संस्कारी बच्चों को स्वयं अपने पास आकर्षित करके उन्हें योग मार्ग में लगाया है। परम कृपानिकेतन प्रभु जी समय—समय पर स्वयं आविर्भूत होकर अथवा अपने विभूतियों के माध्यम से अपने भक्तों का कष्ट हरण करने तथा योग मार्ग के अमर सन्देश पहुँचा कर उन्हें शाश्वत पद की ओर खींचते हैं। प्रभु के उन करुणामय स्वरूप का आविर्भाव सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के रूप में हुआ है। उन्होंने योग जगत एवं योग पिपासु समाज को योग के उस अमर फल का बीज दिया है। जिससे युगों—युगों तक योग साधक समुदाय उपकृत होकर उनकी अमर गाथा गाता रहेगा। उन्होंने सिद्ध योग की ऐसी गंगा को प्रवाहित किया है जिसमें अवगाहन कर हजारों साधक निष्कल्मष होकर महाप्रभु के अभय चरण कमलों में पहुँच रहे हैं। आपने जीवन पर्यन्त सिद्धयोग के अमर व अखण्ड ज्योति को अपने हाथ में लेकर गाँव—गाँव, शहर—शहर, नगर—नगर में अलख जगाया है महाप्रभु के उस अमर सन्देश को जन—जन पहुँचाने में अपने सुख और आराम को त्यागकर आप प्राणपण से इसी में जुटे रहे। अपने दिव्य सानिध्य एवं आरम्भिक शक्ति से रोते हुये'—पापपंक में निमग्न असंख्य जीवों को गले लगाकर उन्हें पावन बनाया है।

वस्तुतः सिद्ध गुरु शिष्य के हृदय भूमि में योग का ऐसी अमरवेल बो देते है जो उसके कर्म संस्कार रूपी कण्टकाकीर्ण भवाटवी को सुखाकर मुक्ति पर्यन्त क्रियाशील रहकर अन्ततः उसे निर्मूल बना देते हैं। हमारे दादा गुरुदेव योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने हिमालय से आकर योग की अमर धरोहर अपने कुछेक अधिकारी शिष्यों के हाथ में ही सौंपी है। महाप्रभु जी के योग प्रचार का तरीका विलक्षण ढंग का था। वे शब्दोपदेश आदि अधिक न करके **'गुरोस्तु मौनम् व्याख्यानम् शिष्यास्तु छिन्न संशयाः'** अर्थात् प्रभु जी शिष्य के भीतर में प्रतिष्ठित होकर योग का उपदेश एवं शक्ति देते जिससे शिष्य के सारे संशय

स्वत: ही निर्मूल हो जाते थे। वे अपने अभिध्यान मात्र से अर्थात् संकल्प मात्र से शिष्य का कल्याण कर दिया करते थे। गुरुदेव योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने प्रथम शब्दोपदेश से संस्कारी जीवों को योग मार्ग में प्रवृत्त कराया है तथा योग के वास्तविक स्वरूप एवं महत्व को बार-बार समझा-समझा कर उन्हें शनैःशनैः कृपा का अधिकारी बनाते हुये आगे बढ़ाया है। श्री प्रभु जी शास्त्रीय उपदेश न करके सीधे ध्यान योग की ही शिक्षा देकर उन्हें आत्मोत्थान की ओर ले जाते थे। उनके पाद पद्म में शरण मिल जाने पर शिष्य उनके आत्मतेज से ही उद्भासित होकर योग की उच्चतम स्थितियों में सहज ही पहुँच जाया करता था। इस प्रकार से अल्प पुरुषार्थ से ही अत्यन्त श्रमसाध्य स्थितियों के सहज में ही पा जाने पर कोई-कोई उस सम्पदा को अपनी सम्पदा व सहज स्थिति मानकर अभिमान कर बैठता था और सन्मुख होने लगता था। उनके सन्मुखता को जानकार श्री प्रभु जी उन्हें अपने चरणों से दूर कर दिया करते थे परिणाम स्वरूप वह उस स्थिति से आगे बढ़ नहीं पाता था श्री प्रभु जी के चरणों में आने वाले ऐसे बहुत से साधकों का चरित्र सुनने-पढ़ने को मिलता है जो ऐसी ही स्थिति में पड़ गये थे। सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज साधकों को श्रवण, मनन-निदिध्यासन की रीति से साधकों को आगे बढ़ाते थे। योग सिद्धान्तों को साधक के हृदय में दृढ़मूल बनाने के लिये श्री मद्भगवद्गीता एवं पातञ्जल शास्त्र को मुख्याधार बनाया।

इस प्रकार सद्गुरुदेव जी ने अपने योग साधकों को सिद्धान्त श्रवण एवं क्रियायोग के महत्व को समझाते हुये पुरुषार्थ पूर्वक योग भूमिकाओं को दृढ़ बनाने का उपदेश दिया है। गुरुदेव जी ने सदा ही इस तथ्य पर बल दिया है कि गुरु तुम्हारे भीतर ही है तुम्हारे पुरुषार्थ व भाव के अनुसार तुम्हें योग भूमिकाओं के ग्रहण योग्य पात्रता एवं योग्यता देते रहते हैं! गुरुदेव जी की अध्यात्म योग में जितनी ऊँचाई थी उस का प्रत्यक्ष प्रभाव उनके व्यक्तित्व एवं व्यावहारिक जीवन में भी देखने को मिलता है। योग जगत में गुरुदेव जी योगियों के मध्य स्वयं ही प्रकाशित होते थे उन्हें किसी अन्य परिचय की आवश्यकता ही नहीं रहा करती थी। भारत में अनेक विश्व स्तर के योग सम्मेलन हुये। गुरुदेव जी ने प्राय: ही इन सम्मेलनों की अध्यक्षता कर उन्हें गौरवान्वित किया है। ऐसे सम्मेलनों में योग के दुरूह सिद्धान्तों का यथार्थ प्रकाशन केवल वे ही कर पाते थे। योग सिद्धान्तों के प्रवाचक तो बहुत होते थे किन्तु योग को अपने जीवन में आत्मसात किया हो ऐसे व्यक्ति विरले ही होते थे। सन् १९८७ में चाँद प्रकाश मेहरा ने नई दिल्ली में शक्ति पात सम्मेलन का आयोजन किया था। उसमें भारत के प्रसिद्ध योगी आये थे उन सबसे शक्ति पात करने को कहा गया किन्तु किसी ने भी ऐसा कुछ करके नहीं दिखाया अन्त में मेहरा जी तथा अन्य सभी श्रेष्ठ लोगों ने श्री महाराज जी से प्रार्थना की कि शक्तिपात की बात तो सभी ने की है किन्तु इसे कर के किसी ने नहीं दिखाया आप हमारी जिज्ञासा शान्त करें। इस पर तथा शक्तिपात रहस्य पर हमारी निष्ठा कायम रखें। श्री गुरुदेव जी ने कहा-शक्तिपात वस्तुत: समाज में प्रदर्शित करने जैसी वस्तु नहीं है। इसे योगी लोग अपने अधिकारी शिष्य पर ही करते हैं। किन्तु लोगों का अत्यन्त आग्रह को देखकर उन्होंने किसी अपरिचित व्यक्ति को उनके पास भेजने के लिये कहा- सेना का एक अवकाश प्राप्त मेजर था वह-श्री महाराज जी ने उस पर गहरा शक्तिपात किया और वह करीब डेढ़ घण्टे तक निश्चल बैठा रहा। उठने पर उसने शक्तिपात क्रिया के रहस्य को सत्यापित किया। मैंने ऐसे अनेक योग सम्मेलनों को देखा है जिनमें गुरुदेव ही सम्मेलन के प्राण होते थे उन सब का उल्लेख यहाँ अपेक्षित नहीं है अस्तु।

महापुरुष जब पृथ्वी पर अवतरित होते हैं तो वह विशिष्ट समय को देखकर ही आविर्भूत होते हैं अपने जीवन लता को अभिसिञ्चित् कर रहे हैं। उन योग सूर्य की दिव्य किरणें हमारे योग देह को निरन्तर पुष्टि दे रहें हैं। उनकी कृपाओं का वर्णन शेष शारदा भी नहीं कर पाते, अन्य कोई क्या करेगा ? ❋ ❋ ❋

धन सञ्चय की अनियन्त्रित भावना

–राजीव कुमार श्रीवास्तव

महापुरुष गौतम बुद्ध एवं जैनाचार्य महावीर स्वामी जी ने अपने 'अहिंसा' व्रत सम्बन्धी नियम के द्वारा विश्व प्रेम और शान्ति पर बल दिया था। अंग्रेजों के विरुद्ध महान देशभक्त नेताजी श्री सुभाष चन्द्र बोस जी के हिंसात्मक सिद्धान्तों से किसी भी कीमत पर सहमत न होने वाले तथा हिन्दु–मुसलमानों के मध्य उठे भयंकर दंगे–फसादों को रोकने के लिए अन्न त्यागने वाले मानवता के पुजारी महात्मा गांधी जी सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति प्रेम का पाठ पढ़ाने वाले सचमुच विश्व के अनौखे ही महात्मा थे। मानव प्रेम की साक्षात मूर्ति महान ईसा मसीह को कौन नहीं जानता ? मानव प्रेम के वशीभूत होकर वे अपने शत्रुओं के हितार्थ भी ईश्वर से प्रार्थना करते थे–"हे प्रभु ! ये निर्दोष है तू इन्हें क्षमा कर दे क्योंकि इन्हें पता नहीं कि ये क्या कर रहे है ?"

प्रत्येक युग में शुभाशुभ होता ही रहता है। अनेक बाधाओं के मध्य एक प्रमुख बाधा **धनलोलुपता** की है जो परस्पर मानव प्रेम के लिए अशुभ है आधुनिक युग में भौतिक सम्पन्नता का आकार प्रत्येक व्यक्ति में हाथी की तरह इतना बढ़ गया है कि परस्पर प्रेम के मधुर संगीतमय स्पन्दनों से समस्त वायु मण्डल को पवित्र करने वाली श्याम की मुरली को इसके कठोर पैरों ने कुचल कर रख दिया है। नियन्त्रण से सुरक्षा है। यदि प्रेम–माधुर्य की मुरली को सुरक्षित रखना है ; उसके मधुर स्वरों को सुनना है तो इस स्वच्छन्द घूमते दुष्ट हाथी पर नियन्त्रण करना अति आवश्यक है किन्तु इसे केवल आत्म सन्तोष की ही जंजीर से बाँधा जा सकता है।

नियन्त्रण कैसा भी हो शुभ ही रहता है बस इतना ध्यान रहे इसकी अति न हो जाए। नियन्त्रण इतना निष्ठापूर्ण न हो कि नियन्त्रण का शुभ परिणाम (लाभ) उठाने वाला ही जीवित न रहे। देखा जाय तो अंग्रेजों का कठोर नियन्त्रण भारत वासियों के लिए अशुभ नहीं था। उस समय के लोगों के अन्तःकरण अंग्रेजों के अत्याचार, सह–सहकर विकारमुक्त हो गंगा की तरह उज्जवल और पवित्र हो गये थे। भौतिक विकास का मार्ग अवश्य अवरुद्ध हुआ था किन्तु आध्यात्मिक उन्नति का विशेष लाभ तो मिला ही था। अंग्रेजो के नियन्त्रण के फलस्वरूप ही उस संघर्षपूर्ण समय में देश को श्रेष्ठ साहित्य और संगीत, उद्देश्य पूर्ण शिक्षा और महान आदर्शवादी राजनेता आदि प्राप्त हो सके। जिनकी आज देश नितान्त आवश्यकता महसूस कर रहा है। अंग्रेजों के बन्धन से मुक्त होने के बाद भारतीय पुरुष को धर्म के बन्धन में रहकर अपने स्वभाव से प्राप्त कर्तव्य कर्मों को करते रहना चाहिए था। किन्तु उसने धर्म की उपेक्षा कर दी और वर्षों की प्रतिक्षा के उपरान्त प्राप्त स्वतन्त्रता की तीव्र धारा में इतना बह गया कि अब वह स्वतन्त्रता ही उसके नाश का कारण बनने जा रही है। धर्मयुक्त मानव को चाहिए कि वह अपनी भावनात्मक स्वतन्त्रता को मध्य बिन्दु पर ही स्थिर रखे। अति

स्वतन्त्रता की अवस्था में कदम पथभ्रष्ट अवश्य होंगे। यदि उस पर कोई बाह्य–नियन्त्रण नहीं है। धर्म का अभाव होने से हर व्यक्ति अज्ञानतावश अपनी भौतिक उन्नति को ही महत्व दे रहा है। धन संचय की अनियन्त्रित भावना ही पारस्परिक प्रेम में प्रमुख बाधा है।

बाह्य नियन्त्रण के रूप में प्रजा पर सरकारी (कानूनी) प्रतिबन्ध तो निरर्थक ही हैं। क्योंकि भौतिकता में सम्पन्न व्यक्ति अपने धन और प्रतिष्ठा के बल पर सरकारी नियमों की अवहेलना बड़ी आसानी से कर जाते हैं। स्थायित्व की कमी और अत्यधिक लोच के कारण इन नियमों में निहित नियन्त्रण शक्ति में शिथिलता की दिशा धनीवर्ग की ओर रहती है। इस घोर कलिकाल में आर्थिक स्तरों के अनुरूप ही नियमों की रूपरेखा है। हम सभी आज यह अनुभव करते है कि जो नियम गरीबों के एक छोटे से दोष के लिए भी अति सख्त है। वही नियम धनीवर्ग के भ्रष्टतम मामलों में भी पहुँचकर अति नरम हो जाते हैं। सर्वत्र पैसे की कृपा और उसके भक्तों की बढ़ती संख्या को देखकर ज्ञानियों की बुद्धि में भी कभी–कभी भ्रम पैदा हो जाता है कि अधार्मिक मूढ़ व्यक्तियों का अभिमानपूर्ण मन्तव्य–**"केवल पैसे से ही सब कुछ सम्भव है।"** –असत्य होते हुए सत्य सा प्रतीत होता है।

जब भी कोई राजा अपनी व्यक्ति गत महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित होकर धर्म च्युत अर्थात् कर्तव्य कर्मों से विमुख हुआ तो उसके मंत्री भी अपने राजा के नियन्त्रण में लोच पाते ही स्ववासनात्मक वृत्तियों के कारण तुरन्त पथ भ्रष्ट हो गये। इस प्रकार मंत्रियों के विभागों से सम्बद्ध उच्चपदाधिकारियों को भी भ्रष्ट होने का अवसर मिल गया। फिर उनके अधीनस्थ कर्मचारी भी स्वयं को भ्रष्ट होने से कैसे रोक पाते ? जब सभी भ्रष्ट हो गये तो चपरासी भी बीस रुपयों की जुगाड़ करने में निर्भीक हो गया। सरकार की सभी प्रशासनिक व्यवस्थाएँ प्रजा के कार्यों पर नियन्त्रण बनाये रखने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए होती है। जब इनमें ही स्वच्छता नहीं है तो प्रजा तो अवश्य पथ भ्रष्ट होगी ही।

आखिर ये सब हो कैसे जाता है ? दोषी कौन ? हम किसी एक को दोषी नहीं ठहरा सकते दोनों पक्षों में अन्योनाश्रित सम्बन्ध है। प्रजातन्त्र में किसी राजा को पथभ्रष्ट होने का मौका तभी मिलता है जब उसकी प्रजा में पहले से ही भ्रष्ट होने की वृत्ति निहित रहती है। ऐसी प्रजा को राजा के भ्रष्ट हो जाने की प्रतीक्षा रहती है ताकि भ्रष्ट होने के लिए उस पर राजा की ओर से कोई नियन्त्रण न रहे। इसी प्रकार वासनात्मक राजा को यह प्रतीक्षा रहती है कि उसकी प्रजा भ्रष्टाचार को पसन्द करने वाली हो जाये। प्रजा की कुवृत्तियों का ज्ञान होते ही भ्रष्ट राजा भ्रष्टाचार पनपने के अनेक रास्ते खोल देता है। हम प्राय: ऐसा देखते हैं कि एक सरकारी कार्यालय के रिश्वतखोर कर्मचारी यही कामना करते रहते हैं कि उनका आनेवाला नया अधिकारी भी रिश्वतखोर ही हो। दूसरी ओर रिश्वतखोर अधिकारी भी यही इच्छा रखता है उसके अधीनस्थ समस्त कर्मचारी भी रिश्वत खोर ही हों। अत: स्पष्ट है भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने में दोनों ही दोषी हैं। सुधार की योग्यता दोनों ही रखते हैं किसी एक पक्ष के सुधरे रहने से अथवा सुधारे जाने से सन्तुलन नहीं बनता। प्राय: देखा जाता है कि एक अच्छे अधिकारी को, उसके दुष्ट–भ्रष्ट कनिष्ट अधिकारी अपनी छलपूर्ण कुचालों में फँसाकर अपने

ही जैसे भ्रष्ट जीवन में लिप्त होने के लिए विवश कर देते है इसी प्रकार एक निम्न स्तर के साधारण ईमानदार कर्मचारी को उसके भ्रष्ट सहकर्मचारी और अधिकारी गण बिगड़ जाने के लिए मजबूर कर देते है। ऐसे हालातों में वही पुरुष श्रेष्ठ है जो चरित्र को भ्रष्ट करने वाली ऐसी नौकरी का तुरन्त त्याग कर दे। भ्रष्टता में लिप्त होकर अपनी पुण्य शक्ति खोने से कण्टकभरा ईमानदारी का जीवन जीना ही अधिक श्रेयस्कर है। थोड़ा सा भी पुण्य कमाना कलयुग में धन कमाने के प्रयत्नों से कई हजार गुना कठिन कार्य है। मनुष्य कितना अज्ञानी है कि धन जैसी तुच्छ उपलब्धि के लिए अपने पिछले जन्म–जन्मान्तरों में अति कठिन पुरुषार्थों, स्वाध्याय, तप तथा यज्ञादि कर्मों से कमाई दुर्लभ पुण्य शक्ति को बिना किसी प्रतिरोध के सहर्ष क्षय कर देता है बिना स्वाध्याय परायण हुये अत्यधिक धन कमाने के तीव्र संवेगों को नियन्त्रण में लाना असम्भव कार्य है। निराश होने की आवश्यकता नहीं योग सिद्धान्त ऐसी असंख्य समस्याओं के समाधान बड़े ही सरल उपायों से करते है। "विश्व मानव प्रेम और शान्ति" के मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं का योग परक हल विस्तार पूर्वक अपने आगामी लेखों में देने का यत्न करूंगा।

धर्मच्युत होने पर अनियन्त्रित वातावरण में मनुष्य की तीव्र वासनाऐं जाग्रत होने लगती है। समस्त वासनाऐं मनुष्य को धर्म से जितना विमुख करती है उतना ही सांसारिकता में लिप्त कर देती है। भौतिक सम्पन्नता की ओर अग्रसरित होने के लिए मनुष्य को दी गई अति स्वतन्त्रता भी एक प्रकार का बन्धन ही है। धन की प्रचुर मात्रा एकत्रित होने पर अहंकार की जनक अज्ञानता मनुष्य के चित्त (बुद्धि) को अपनी निष्ठुर जंजीर में बाँध लेती है। अहंकार जो अब तक विवेक पूर्ण बुद्धि के नियन्त्रण में था अज्ञानता के वश में होते ही विवेकपूर्ण बुद्धि के नियन्त्रण से मुक्त होकर सभी के लिए हर प्रकार से कष्टदायी हो जाता है। संतों ने इस अहंकार को ही आध्यात्मिक पतन का प्रमुख कारण बताया है।

पारस्परिक प्रेम का शत्रु 'अहंकार'

अहंकार चाहे अपने अन्दर हो चाहे दूसरों में उचित नहीं है। इसको ही प्रथम समाप्त करना चाहिए। किन्तु इसे धारण करने वाले से कैसी घृणा ? हम किसी के अहंकार से तभी पीड़ित होते हैं जब हमारे अन्दर भी अहंकार की मात्रा होती है। अहंकार रहित लोग ही दूसरों के अहंकार पूर्ण कुतर्क व दुर्व्यवहार को सहर्ष बर्दाश्त करते हैं। हम पहले स्वयं अपने ही अहंकार को नष्ट करने के उपाय करें तत्पश्चात दूसरों में बुराई ढूंढने की चेष्टा करें। हमें किसी की गाली तभी परेशान करती है जब हमारे अन्दर अहंकार की प्रचुर मात्रा होने से सहनशक्ति कम होती है। बड़े लोगों में एक स्वाभाविक दुर्गुण और देखने को मिलता है। ये लोग भ्रमित होकर ऐसा सोचने लग जाते हैं कि हम जो करते हैं, कहते हैं, खाते हैं, पीते बस वही सब कार्य श्रेष्ठ है। यदि छोटे लोग इनकी बात को अमान्य करदें तो ये लोग अहंकार वश, इसे अपना अपमान समझ कर जीवन पर्यन्त अपने हृदय को जलाते रहते हैं।

आज से १२१३ वर्ष पूर्व किसी व्यक्ति से मेरे एक मित्र ने अहंकार पूर्ण कोई कड़वी बात कह दी। मेरा मित्र गरीब है जब कि वह व्यक्ति बढ़िया खाने–पीने वाला पढ़ालिखा बड़ा आदमी है। मेरे मित्र की बात उन्हें ऐसी लग गई कि अभी तक उनके हृदय में खटक रही है जबकि मेरे मित्र को उनसे कोई शिकायत नहीं है। मुझे आश्चर्य होता है उनकी मानसिक संकीर्णता पर उन्होंने उक्त घटना के बाद से ही मेरे मित्र से बोलना छोड़ दिया। यह व्यक्ति मेरे मित्र के सगे चाचा अथवा ताऊ लगते हैं। मेरे मित्र की प्रत्येक सफलता से अब उन्हें ईर्ष्या होती है। ये कई बात अपने पुराने अपमान की बात को मुझे सुना चुके हैं ; और मेरे मित्र की आलोचना करते हैं ताकि मैं उनके ईर्ष्यायुक्त विषैले शब्दों को अपने मित्र तक पहुँचा सकूँ किन्तु वह सरल स्वभाव के है हँसकर इन बातों की उपेक्षा करके आनन्द से रहता है नीच लोगों की यही पहचान है स्वयं अपनी हृदय–जलन को तो मिटा नहीं सकते दूसरा जो शान्ति से रह रहा है उसके हृदय में भी आग भड़काना चाहते हैं। मेरा मित्र भी यदि अहंकार युक्त होकर विरोध में खड़ा हो जाय तो एक चिर स्थायी खानदानी दुश्मनी की नींव रख जाय। मेरे मित्र की एक छोटी सी बात से यदि उनके हृदय में इतनी जलन होती है तो यह उनके ही अहंकार का दोष है। उन्हें अपने अहंकार को नष्ट करना चाहिए। अहंकार के नष्ट होते ही अब तक अप्रिय लगने वाला व्यक्ति स्वतः ही अति प्रिय लगने लगता है। सच पूछो तो मुझे इस धनवान व्यक्ति के ऐश्वर्यों में कोई सुख नहीं मिलता जबकि अपने मित्र के सामान्य से जीवन मे ईश्वरीय आनन्द का सुख महसूस होता है।

आज दुनियाँ में हर तरफ जो मतभेद देखने को मिलता है इसका मुख्य कारण यही है कि सभी लोगों में अहंकार भाव है ; सहन शक्ति की कमी है अतः तुच्छ बातों पर जल्दी मतभेद हो जाते है।

अहंकार को जन्म देने वाली अज्ञानता पर यदि शुरू से ही ध्यान नहीं दिया गया तो बाद में यह बलवती होकर इतनी कठोर हो जाती है कि इस जंजीर की पकड़ से मुक्त होना स्वयं अपने वश की बात नहीं रह जाती। ईश्वर की महान अनुकम्पा के बाद ही कभी किसी के लिए ऐसे सौभाग्य पूर्ण दुर्लभ क्षण आते हैं, जब किसी सिद्ध गुरुदेव के कर कमल इस अज्ञानता की कठोर जंजीर को तोड़कर उसे अपने ज्ञानमय आलिंगन पाश में हमेशा के लिए बाँधलिया करते हैं। भौतिक ऐश्वर्यों से मुक्त अज्ञानी लोगों को उनके पिछले प्रबल पुण्य पुरुषार्थों के बल पर, मानव हित में सदैव परोपकारी कोई ज्ञानी पुरुष मिल जाय तो सम्भव है वे उस महापुरुष की परोपकारी चेष्टाओं के फलस्वरूप अहंकार मुक्त होकर दिव्य ज्ञान से परिपूर्ण हो जाय। अन्यथा अहंकार की प्रबलवस्था में पहुँचकर अभिमानी रावण–कंस की तरह टुकड़े–टुकड़े होना पड़ेगा। ऐसे अहंकारी लोग ही कुतर्क करते हैं, संतों का अपमान करते हैं, पापाचार को बढ़ाकर धर्म का मार्ग अवरुद्ध करते है। ये ही लोग कामी, क्रोधी, लोभी और मोह करने वाले होते हैं। अहंकार से ही परस्पर वैमनस्य है, लड़ाई–झगड़ा है, अपराध है, झूठ है, अविवेक है, अविद्या है। अन्ततः यदि योग विद्या को नहीं अपनाया गया तो घोर दुर्गति और सर्वनाश निश्चित ही आशंकित है।

* * *

शक्तिप्रतीक

अवतार, गुरु और सिद्धपुरुष

स्वामी सारदानन्द

(श्री स्वामी सारदानन्द का यह लेख पठनीय है। हम सबको आराध्य प्रभुजी और महाप्रभु जी की जीवनचर्या की झाँकी उन्हीं शक्तिप्रतीकों में करनी चाहिए, जो अपने लोक–कल्याण के लिए ही मुक्त–पुरुष के रूप में समय–समय पर यहाँ आया करते हैं। —सम्पादक)

शास्त्रकार कहा करते हैं–"पेड़–पत्थर लेकर भगवान् की विशेष लीला प्रकाशित नहीं होती, बल्कि मनुष्य का मन ही उनकी विशेष लीला का स्थान है।" वे कहते हैं–"यदि मनुष्य न रहता, कोई भक्त न होता तो भगवान् को पूछता, कौन ? उनकी अपार शक्ति और महिमा का वेद–वेदान्त लिखकर कौन प्रचार करता है ? भक्त है, इसी कारण तो भगवान् है।" फिर कहते हैं–"भागवत, भक्त और भगवान्–तीनों एक है और एक में तीन हैं।"

विशेष शक्तियुक्त पदार्थों या शक्ति–प्रतीकों की विवेचना में प्रवृत्त होकर हमने आरम्भ में ही मनुष्य में शक्ति–पूजा की अवधारणा की है। इससे कोई ऐसा अनुमान न कर लें कि मनुष्य के भीतर ही सर्वप्रथम विशेष शक्ति का परिचय पाकर मनुष्य उसकी उपासना में नियुक्त हुआ और गुरुपूजा ही उसने पहले सीखी थी। मानव प्रकृति का इतिहास बताता है–

'मनुष्य ने प्रकट रूप से शक्ति–पूजा करना संसार में थोड़े ही दिन पहले सीखा है। भारत में ही उस पूजा का प्रथम अभ्युदय हुआ और भारत से ही संसार भर में इस पूजा का प्रचार हुआ। स्वामी विवेकानन्द जी कहते थे–"**समय–समय पर भारत से ही प्रबल धर्म तरंग उत्थित होकर संसार में सर्वत्र प्रवाहित हो रही है और आगे भी बराबर होती रहेगी।**" वैदिक युग से ही इसका आभास मिलता है, बौद्धयुग में तो यह निस्सन्देह प्रमाणित हुआ है और वर्तमान युग में वेदान्त का प्रचार हमारे नेत्रों के सामने ही अभिनीत हो रहा है। इतिहास जहाँ भी काल के अन्धकार का भेदन करने में समर्थ हुआ है और हो रहा है, वहीं स्वामी राम–कृष्ण की यह बात प्रमाणित हो रही है।

भारत में ही गुरुरूपी ईश्वरी शक्ति का प्रथम विकास मनुष्य में हुआ ब्रह्मज्ञ वैदिक ऋषि इसके प्रमाण हैं। अवतार–रूपी महाशक्ति–केन्द्र ने भारत में ही पहले–पहल उदित होकर संसार भर में महाविप्लव किया था और उसी ने सर्वत्र सभ्यता तथा ज्ञानालोक का प्रकाशन किया था, भगवान् बुद्ध और उनके परवर्ती प्रचारकों के कार्यों से यह प्रमाणित है। नागार्जुन आदि बौद्ध प्रचारकों का तातार, चीन और जापान पर अधिकार स्थापन

करना, महाराजा अशोक का इजिप्त, एशिया–माइनर फारस आदि देशों में प्रचारक भेजना तथा उन देशों में अभी भी शासन–स्तम्भों का विद्यमान रहना–इन बातों का स्मरण कराते हैं कि बहुकालाभ्यस्त श्रीगुरु–पूजा तो अब भारत में सर्वत्र मज्जागत हो गयी है।

अवतार, आध्यात्मिक राज्य के एक छत्र सम्राट होते हैं। वे समस्त देशों के कालों के लोकगुरु होते हैं। युग–युग में अवतार अनेक होने पर भी व्यक्ति एक ही है। वे कभी गुप्त और कभी व्यक्त भाव से अविर्भूत होकर चिरकाल से जनकल्याण–कार्य करने में निरत है।

उनका शरीर और मन ईश्वरी सम्पूर्णता और मानवी दुर्बलता की अपूर्व मिलन भूमि है। स्थूल बुद्धि वाले मनुष्यों के मन में विपरीत धर्म भावों का सामंजस्य करने के लिए पुराणकारों ने हरिहर, अर्धनारीश्वर आदि अपूर्व देवमूर्तियों की कल्पना की है। तो क्या उनकी इस कल्पना के मूल में विपरीत धर्म–शील अपूर्व अवतार–विग्रह ही विद्यमान है ?

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।"

–(गीता ९/११)

अवताररूप गुरु को ठीक–ठीक जानने और पहचानने में कौन समर्थ है ? वह सभी कालों में परमात्मा की तरह **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"** है,–जिसके निकट इच्छा हुई कृपा पूर्वक उसके सामने स्वस्वरूप प्रकट करते हैं। उन्हीं के श्रीमुख से उसके स्वरूप–लक्षण सुनकर श्रुति–स्मृति आदि धर्मशास्त्र जैसे लिखने में समर्थ हुए हैं, उसी का संक्षिप्त मर्म नीचे देकर हम जगद्गुरु और अवतारी पुरुष में शक्ति पूजा की बात करेंगे।

प्रथम : वे कौन हैं, पहले क्या थे, इस जन्म में मनुष्य–शरीर ग्रहण कर उनके आगमन का कारण क्या है–इत्यादि बातों की चेतना अवतारी पुरुष में बचपन से ही थोड़ी बहुत मात्रा में दिखाई पड़ती है। भगवान् श्री कृष्ण में उस ज्ञान का सबसे अधिक विकास हुआ था, यह बात भारत के धर्मेतिहास में प्रसिद्ध है।

द्वितीय : अभाव का अनुभव ही हमारी समस्त चेष्टाओं का मूल है और उस अभाव की पूर्ति न होने से दुःख आ जाता है। अपना स्वयं का कोई अभाव न रहते हुए भी दूसरे के अभाव से या दूसरों के अभाव विशेष को दूर करने के लिए अवतारी पुरुष की सारी चेष्टाएँ होती हैं। उस एकनिष्ठा चेष्टा का अपरिमित वेग साधारण मानव की अभाव बोध–प्रसूत चेष्टा में भी कभी लक्षित नहीं होता। जीवनभर निःस्वार्थ चेष्टा करने में केवल वे ही समर्थ होते हैं।

तृतीय : मनोराज्य में उनका एकाधिपत्य है। जिस प्रकार अपने मन पर है उसी प्रकार दूसरे मनुष्यों के ऊपर भी है। दूसरे न मन के कर्मसंचित पूर्वसंस्कारों को चूर्ण–विचूर्ण करके थोड़े ही समय के भीतर नये भाव से और नवीन आदर्श से गठित करने में वे ही समर्थ हैं। शरीर के स्पर्श मात्र से दूसरे के मन में परिवर्तन लाकर उसे समाधिस्थ कर देना या कोई विशेष भाव उपलब्ध करा देना– उनके सम्बन्ध में इस प्रकार की

बातें सभी जातियों के धर्मेतिहास में विद्यमान है।

चतुर्थ : परमात्मा का अपरोक्ष रूप से अनुभव करने के नये मार्ग का आविष्कार करना या जनसमाज में प्रचलित पूर्व–विदित मार्गों या धर्मों के भीतर सम्बन्ध–सूत्र का आविष्कार करना और उस भाव का नूतन आदर्श अपने जीवन में प्रदर्शित करके जनसमाज मे प्रवर्तित कर देना वे ही लोग अनादिकाल से सम्पन्न करते आये है।

पंचम : धर्मादर्श के अतिरिक्त अवतारी पुरुषों के जीवन में तात्कालिक समाज का नैतिक आदर्श भी स्वाभाविक रूप से सम्पूर्ण परिस्फुरण होता रहता है। नैतिक आदर्श धर्मादर्श से सम्पूर्ण भिन्न है और समाज के परिवर्तन के साथ–साथ प्रत्येक युग में वह भिन्न रूप धारण करता है– इस बात को न समझकर ही हम प्रायः सभी अवतारी पुरुषों के जीवन को एक ही प्रकार के नैतिक आदर्श से गठित देखने की आशा करते है और उनके अलोक सामान्य चरित्र का उस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन करने में प्रवृत्त हो हम भ्रम में पतित होते है।

षष्ठ : अवतार मुक्तकण्ठ से जनसाधारण को कहते जाते हैं–"**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**"–"हे त्रितापासन्न जीव, मेरा आश्रय लो, मैं तुम्हें शान्ति दूँगा।"– और वे लोकगुरु और ईश्वरावतार हैं, यह बातस्वयं अनुभव करते हैं और दूसरों को भी अपनी शक्ति के प्रभाव से उसी प्रकार का अनुभव करा देते है।

अवतारी पुरुष के समय–समय पर गुप्त रूप से आविर्भाव की बात हमने पहले बताई है। श्री रामकृष्णदेव इस विषय में कहते है– "जैसे राजा कभी सज–धजकर सिपाही–सन्तरियों को साथ लेकर प्रकट रूप से ढोल दमामा पिटवाते हुए नगर देखने के लिए निकलते है, फिर कभी भेष बदलकर प्रजाओं की अवस्था और काम–काज देखने के लिए निकलते है और यदि प्रजाओं में किसी बुद्धिमान् पुरुष को ज्ञात हो जाय कि 'यही हमारे राजा हैं, छद्म–वेश में हमारे बीच में आये हैं' और इस बात को एक दूसरे से कानाफूसी करते हुए वे कहने लगते है तो राजा वहाँ से खिसक जाते है, ठीक उसी प्रकार अवतार के व्यक्त और गुप्त रूप से आविर्भाव के बारे में समझना।"

श्रीरामकृष्ण देव एक अन्य बात अवतार के सम्बन्ध में कहते थे–"अवतारी पुरुष की कभी मुक्ति नहीं होती"। "जैसे सरकारी आदमी को जमींदारी के जिस स्थान में गड़बड़ी होती है वहीं तुरन्त चले जाना पड़ता है और वहाँ शान्ति स्थापित करनी पड़ती है, इसी प्रकार ब्रह्ममयी देवी का जमींदारी–रूप इस पूर्ण संसार में जहाँ कहीं गड़बड़ी उपस्थित हो, वहीं अवतारी पुरुष के रूप में आविर्भूत होकर लोगों का दुःखमोचन करना होता है।" इस बात से कोई ऐसा न समझे कि अवतारी पुरुष को अनन्तकाल तक ही माया के अधीन रहना पड़ता है। वे स्वभाव से ही मायाधीश तथा आत्माराम हैं–कभी भी वे बद्ध नहीं होते। अतः उनकी मुक्ति कब और कैसे हो ? यह प्रश्न ही नहीं उठता।

अवतारी पुरुष ही आध्यात्मिक जगत् में एकमात्र पथ–प्रदर्शक है। यह संसार आदि काल से सिर झुकाकर

उनके पवित्र चरित्र की पूजा करता आ रहा है और चिरकाल तक करता रहेगा। उनके मनुष्य–शरीर धारण करने से समस्त मनुष्य धन्य हो गये हैं। हे भारत, प्रत्येक युग में तुम्हीं उनके विशेष कृपा पात्र रहे तथा इसी कारण तुम धर्म जगत् में शीर्ष स्थान पर अधिकार करके विराजमान हो। उन्हें सम्मान देने और पूजा करने से तुम कभी मुँह न मोड़ो।

ईश्वरावतार की पूजा के अतिरिक्त भारत, आध्यात्मिक जगत् में सिद्ध–पुरुष, मन्त्रदाता गुरु और उपगुरु आदि को चिरकाल से सम्मान देता और उनकी पूजा करता आ रहा है। इन लोगों के सम्बन्ध में भी यहाँ दो–चार बातें कही जा सकती हैं।

सिद्धपुरुष ईश्वरावतार के द्वारा निर्दिष्ट किये गये किसी मार्ग विशेष से अग्रसर होकर पूर्णकाम और जीवन्मुक्त होते हैं। उस समय उनके लिए स्वार्थ के लिए चेष्टा करना असम्भव हो जाता है, क्योंकि यथार्थ धर्मानन्द का लाभ हो जाने से उनकी अवस्था इस प्रकार हो जाती है–

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।"

–(गीता ६/२२)

इस प्रकार की अवस्था प्राप्त हो जाने से उन्हें संसार के सभी सुख–दुःखादि अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। अवतारी पुरुष की तरह शक्ति का प्रकाश न होने पर भी उनमें गुरुशक्ति प्रबुद्ध होकर सदा लोककल्याण कार्य में नियुक्त रहती है। धर्म जगत् में नये मार्ग का आविष्कार करने में वे समर्थ न होने पर भी उनके दर्शन मात्र से स्थूलदर्शी काम कांचनैकदृष्टि सम्पन्न मनुष्य छाया की तरह अस्पष्ट प्रतीत होने वाली धर्मादर्श को सचल और जीवित रूप से अनुभव कर सकते हैं। वे ईश्वरावतार की तरह स्पर्श या इच्छा मात्र से ही लोगों को धर्म–जीवन दान करने में समर्थ न होने पर भी दूसरों के भीतर धर्म जीवन उद्दीपित करने की उनकी इच्छा निष्फल नहीं होती।

अवतारी पुरुष की तरह, किसी जाति विशेष के जीवन में और उसके भीतर से अन्यान्य जातियों के जीवन में प्रबल वेग से उत्तल तरंग मनयुक्त धर्म प्लावन प्रवाहित करके अपूर्व परिवर्तन साधित न कर सकने पर भी वे अपने चारों ओर के मनुष्यों के मन में धर्म का स्रोत प्रवाहित करके उन्हें धन्य और कृतार्थ कर सकते हैं। सिद्धपुरुष मन्त्र आदि के अवलम्बन के द्वारा दूसरे मनुष्यों में धर्म शक्ति संचारित कर सकते हैं। अवतारों की बात छोड़कर, अन्य किसी भी मनुष्य में इन लोगों के सदृश धर्म शक्ति का प्रकाश नहीं दिखायी पड़ता। अवतार धर्म के प्रवर्तक हैं और सिद्धपुरुष उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म के आदेश से अपने जीवन को गठित करके उसे पुष्ट बनाते रहते हैं। इनकी पूजा करने तथा इनके आदर्श के अनुरूप जीवन गठित कर सकने से मनुष्य धन्य और कृतार्थ होगा, यह कहना अनावश्यक है।

स्थूल नेत्रों का विषय न होने पर भी धर्म एक जीती–जागती शक्ति है। उसके फल का प्रत्यक्ष अनुभव

किया जा सकता है तथा दूसरों को भी उसका अनुभव कराया जा सकता है। विशेष शक्ति सम्पन्न पुरुष अपने शरीर और मन से वह शक्ति दूसरों में संचारित करा सकते हैं यथा ईश्वर, आत्मा, परलोक–विषयक जिन सब अनुभवों का जीवन में प्रयास करना पहले उसके लिए स्वप्न में भी अगोचर था, उनका भी प्रत्यक्ष अनुभव दूसरों को करा सकते हैं। चिरकाल से इन विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव करके भारत उन पर विश्वास करता आया है।

बहुत दिनों की चेष्टा, ध्यान और एकाग्रता के द्वारा किसी विशेष भाव की उपलब्धि करके उसे किसी विशेष शब्द के साथ ऐसे सुदृढ़ भाव से संयुक्त कराया जा सकता है कि उसके उच्चारण मात्र से वह विशेष भाव उज्जवल रूप से दूसरे के मन में उदित होकर उसे अपूर्व अनुभव प्रत्यक्ष करायेगा। तथा प्रत्येक अनुभव जिस प्रकार सुख या दुःख उत्पन्न करके मनुष्य के जीवन को परिवर्तित कर सकता है, उसी प्रकार इस अद्भुत अनुभव में भी दूसरों के मन को परिवर्तित करके विशेष आनन्द या दुःख प्रदान करने की शक्ति है इसी का नाम मन्त्रशक्ति है। उस मन्त्रशक्ति के प्रभाव से भी भारत चिरकाल से अवगत होकर इसकी आराधना में सदा से संलग्न है। कपटी और धूर्तों के हाथ से समय–समय पर धोखा खाने तथा हानि पहुँचाये जाने पर भी यथार्थ गुरु की खोज में वे विषय प्राचीन एवं आधुनिक काल में अनेक बार परीक्षित तथा सत्य प्रमाणित हुए हैं। मन्त्रशक्ति के ऊपर विश्वास ही मन्त्रदाता गुरु की उपासना का मूल है।

मन्त्रफल की उपलब्धि करने के लिए केवल उपयुक्त गुरु की ही आवश्यकता है, ऐसी बात नहीं। **"आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः"** तथा श्रद्धा–सम्पन्न उपयुक्त शिष्य में गुरुशक्ति संचारित होने पर ही तुरन्त फल प्रत्यक्ष किया जा सकता है। सुफल लाभ करने में यहाँ भी उर्वर भूमि, उत्तम कर्षण, उत्तम बीज और सर्वोपरि उस बीज की यत्न के साथ सुरक्षा तथा जल–सिंचन आदि आवश्यक हैं। बीज उत्तम होने पर भी अनेक स्थलों में मन्त्र का फल प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका कारण है—इन सब आवश्यक विषयों का अभाव। एक श्रद्धास्पद मित्र कहते थे— "लंगर डालकर पतवार खेने से जिस प्रकार नाव कभी नहीं चलती, उसी प्रकार उन वस्तुओं का अभाव होने से भगवान् की शक्ति की उपलब्धि करना भी असम्भव है।

कई बार मन्त्रशक्ति पर विश्वास विषयासक्त व्यक्ति के मन को हानि भी पहुँचाता है। यह जानकर कि एक व्यक्ति का मन दूसरे व्यक्ति के मन पर प्रभाव डाल सकता है, काम क्रोधान्ध पुरुष कभी–कभी अपनी स्वार्थ तृप्ति की आशा से उस शक्ति का आश्रय ग्रहण करता है। अथवा दुर्बल, हीन, पशुवृत्ति मनुष्य अपनी पाशव प्रवृत्ति की चरितार्थता के लिए, पवित्र गुरुनाम के अयोग्य किसी नीच पुरुष की सहायता से उस शक्ति का प्रयोग करता है। वैसी चेष्टा कभी सफल होने पर भी उस दुष्कर्म के फल स्वरूप उस व्यक्ति को अनेक प्रकार का दुःख, अशान्ति और मानसिक अवनति रूप में दण्ड भोगना पड़ता है।

* * *

छान्दोग्य–प्रवचन :

भूमविद्याका साधन-साध्य–२

प्रवचनकार :
अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

संकलनकर्त्री :
डा० उर्वशी जे० सूरती, डी. लिट्

तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः।

(छान्दोग्योपनिषद्)

'भगवान् सनत्कुमारने नारदजी को जिनके कषाय उपमर्दित हो चुके थे तमस्का पार दिखा दिया।' तमस् अर्थात् अज्ञान, अविद्या, अन्धकार। नारदजी ने सनत्कुमार से प्रश्न किया था कि 'कृपा करके आप मुझे शोक के उस पार कर दो।'

तं मा भगवान्छोकस्य पारं तारयत्विति

और अन्त में उपनिषद्ने बताया कि सनत्कुमार जी ने नारद को तमस्के परे पहुँचा दिया। इससे यह उपनिषद्–सिद्धान्त स्थापित हुआ कि शोक–मोह इत्यादि– ये सब तमस्–जन्य हैं, अज्ञान–जन्य हैं, आत्मज्ञान के विरोधी पक्ष हैं।

भिन्न–भिन्न दर्शनों में तमस् के भिन्न–भिन्न पर्यायों का प्रयोग मिलता है, जैसे अविद्या, भ्रम, मिथ्या–ज्ञान, प्रमाद, अविवेक इत्यादि। ये सब बुद्धि के अन्धकार हैं। आत्मा को सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्मको न जानना, यह भी तमस् है। और इस अज्ञान के कारण आत्मा को कुछ अन्यरूप जानना, यह भी तमस् है। जिस अन्तःकरण में **अहमज्ञः** अथवा **अहं नात्मवित्, अहं शोचामि** आदि आध्यासिक वृत्तियाँ उठती हैं, उसी अन्तःकरण में जब **वेदाहमेतं पुरुष महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्** यह वृत्ति उठती है तब उसे अन्तःकरणाभिमानी–की कृतकृत्यता होती है, तभी वह तमस् के पार स्वप्रकाशरूप आत्मा का 'दर्शन' करता है जो तमस्का भी प्रकाशक है और तमस् के अभावका भी प्रकाशक है। ऐसा नहीं होता कि ज्ञानी यह कहे कि नहीं कि 'मैं ज्ञानी हूँ'। ज्ञानी छाती ठोंक के कह सकता है कि 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ। वेदका ऋषि बोल ही रहा है कि **वेदाहमेतं पुरुष महान्तम्**। ब्रह्मज्ञानी का अपने बारे में ज्ञानी, अज्ञानी या उनसे विलक्षण होने के सब कथन समान हैं क्योंकि शब्द तो वाचारम्भणमात्र है, शब्द और उसके अर्थ के आश्रय के सम्बन्ध में उसकी कोई विचिकित्सा नहीं है।

हमने एक महात्मा से पूछा : आप अपने को ब्रह्म क्यों कहते हैं ?

महात्मा बोले : तुम अपने को मनुष्य क्यों कहते हो ?

मैं : मैं जानता हूँ कि मैं मनुष्य ही हूँ, अतः अपने को मनुष्य कहता हूँ।

महात्मा : इसी प्रकार मैं भी जानता हूँ कि मैं ब्रह्म हूँ, अतः मैं अपने को ब्रह्म कहता हूँ। तुम अपने को मनुष्य कहते हो, हड्डी, चाम, मांस का पुतला ! ऐसा कहने में तो तुमको शरम आती नहीं। और मैं

अनुभव से, उपनिषद् से, ब्रह्मविद्या से जानता हूँ कि मैं ब्रह्म हूँ, तो मुझको क्यों शरम आनी चाहिए ?

महात्माने बमगोला फेंका : शरम उनको आनी चाहिए जो इस हड्डी, चाम, मांस, खून के पुतले को 'मैं' मानते हैं शरम उनको आनी चाहिए जो अपने को गोरा–काला मानते हैं, जो अपनी लम्बाई–मोटाई नापते हैं। शरम उनको आनी चाहिए जो अपने को वासनावान् जन्मने–मरने वाला मानकर जन्म–मरण के चक्कर में पड़े हैं। मैं अपने को सजातीय–विजातीय–स्वगतभेदशून्य सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म जानता हूँ तब मुझे अपने को ब्रह्म कहने में क्यों शरम आनी चाहिए।

वेदाहमेतं०—यह मन्त्र ऋग्वेद में भी है और यजुर्वेद में भी है।

ऋषि कहता है कि 'मैं इस आदित्यवर्ण वाले महानतम पुरुष (ब्रह्म) को जानता हूँ जो तमस्से परे है। उसको ही जानकर मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।' यहाँ जो एतम् है वही तम् है और जो तमस् है वही मृत्यु है। अर्थात् आत्मा की ब्रह्मता को जानकर ही मनुष्य मृत्युरूप तमस्को पार कर जाता है।

इस प्रकार तमस्का एक किनारा शोक है, मोह है, मृत्यु है, जड़ता है, दुःख है और दूसरा किनारा प्रसाद है, सर्वग्रन्थि–विप्रमोक्ष है, अमृत है, ज्ञान है, आनन्द है। इसलिए सनत्कुमार ने जब नारद को तमस्का पार दिखा दिया (**तमसस्पारं दर्शयति**) तो अर्थ हुआ कि शोक–मोह–मृत्यु की आत्यन्तिक निवृत्ति प्रदान कर दी। दूसरे शब्दों में भूमविद्या का पर्यवसान जिस **सर्वग्रन्थीनाम् विप्रमोक्षः** में हुआ था ! अविद्या–निवृत्ति के साथ ही अविद्या–जन्य शोक–मोहादिकी सर्वग्रन्थियों को विप्रमोक्ष हो जाता है।

मुण्डकोपनिषद्की श्रुति है :

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

'उस परावर आत्मा को देखकर हृदय की ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है, सब संशय–विपर्यय नष्ट हो जाते हैं और उसके सब कर्म क्षय हो जाते हैं।'

भगवान् सनत्कुमार ने यह भूमविद्या प्रदान की नारद जी को जिनका विशेषण श्रुति देती है : **मृदितकषाय (तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति)**। माने मनके कषाय सब उपमर्दित हो चुके थे जिनके, उन नारद जी को भूमविद्या प्रदान की गयी।

कषाय माने क्या ? कुछ लोग गेरुआ वस्त्रा को कषाय वस्त्र बोलते हैं। जैसे सफेद कपड़े पर गेरुआ रंग चढ़ा दिया गया है वैसे ही शुद्धसात्त्वात्मक ज्ञानात्मक मनपर रजनात्मक रंग चढ़ा दिया गया है। 'यह हमारा दोस्त है, यह दुश्मन है' यह एक रंग चढ़ गया। इसी प्रकार जाने कितने रंग (संस्कार) चढ़ाये गये हैं मन पर। आप पैदा हुए थे तब क्या आपको मालूम था कि आपका पिता कौन है और माता कौन है ? कुछ नहीं मालूम था। यह सब आपके अन्तःकरण पर रंग (संस्कार) चढ़ाया गया है इन संस्कारों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) देहवासना—'मैं देह हूँ' यह तो माँ–बाप के शरीर में–से ही संस्कार आ जाता है। विचार से इसको

शुद्ध सात्विक ज्ञानमय है।

ज्ञान है एक। जब उससे संसार देखते हैं तब उसी ज्ञानका नाम होता है जीव या अन्तःकरण। जब उससे संसार देखना छोड़ देते हैं, अर्थात् उसमें प्रतिफलित ससार की उपेक्षा कर देते हैं (अथवा जब अन्तःकरण बाधित हो जाता है) और ज्ञान शुद्ध ब्रह्म से एक हो जाता है, तब उसी ज्ञान का नाम ब्रह्म हो जाता है। वही ब्रह्म जब संसार को देखता है तब उसका नाम होता है जीव या अन्तःकरण और वही जीव जब संसार को देखना छोड़ देता है तो उसका नाम हो जाता है ब्रह्म। जीव और ब्रह्म चीज एक ही है— ज्ञान— जो मुक्ति का अनुभव कर रहा है वही संसार का भी अनुभव कर रहा है और जो संसार का अनुभव कर रहा है वही मुक्तिरूप है, पहिचानता नहीं। इसीलिए श्रुतिने कहा : **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति तम् एव विदित्वा एव मृत्युम् अत्येति** उस ब्रह्मात्मा को ही, किसी अन्य को नहीं, और जानकर ही, कुछ अन्य साधन से नहीं, मृत्यु को तर जाता है।

अज्ञान से जो चीज मालूम पड़ती है वह मिथ्या है, और ज्ञान से जो चीज मिट जाती है वह भी मिथ्या है। ज्ञान से चीज मिलती है वह पहले से मिली हुई होती है, और अज्ञान से जो चीज अनमिली होती है वह भी मिली हुई रहती है। इस प्रकार ज्ञान से सिद्ध अमृतत्व प्राप्त ही है, उसमें अप्राप्ति का भ्रम तथा मृत्यु की प्राप्ति केवल भ्रम है।

तो 'मृदित कषाय' माने जिसके अन्तःकरण के कषाय उपमर्दित कर दिये गये हों अर्थात् रौंद डाले गये हों जैसे कोई मिट्टी को रौंदते हैं, पीटते हैं, गीला करके नयी आकृति में ढालते हैं। दूसरे शब्दों में जिसके मन में कोई रंग नहीं है वह मृदित कषाय है। रंगहीन अन्तःकरण अपने को आत्मा से भिन्न दिखाता ही नहीं। हमने बहुत कुछ सुना है, उससे संस्कार—विकार अन्तःकरण में आये हैं। एक बार उन्हें दूर कर दो, उन्हें उचन्त—खाते में (बट्टे खाते) डाल दो। फिर देखोगे कि अपने से पृथक् अन्तःकरण कुछ है ही नहीं।

अन्तःकरण का उपादान ब्रह्म है, उसमें आये संस्कार प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्मों से जन्य हैं। माया से वह आत्मा से पृथक् दीखता है और अविद्या से अपना दीखता है। अविद्या नष्ट हो जाने पर अन्तःकरण की पृथक् सत्ता एवं उसका आत्मा से सम्बन्ध बाधित हो जाता है।

न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
यदर्थप्रतिमानं तत् मन इत्यभिधीयते।।

'न बाहर मन है, न भीतर मन है। अर्थ भान का नाम मन है, प्रतिभान का नाम मन है।

जितने दुनिया के रंग चढ़े हैं सब उधार का माल है। उदाहरणार्थ 'मकान मेरा है'—इसमें मेरापना उधार है। जब तुम नहीं थे सम्भवतः तब भी मकान था (नहीं तो उसका मसाला कंकड़, पत्थर, ईंट, चूना तो था ही)। जब तुम नहीं रहोगे मकान तब भी रहेगा, तुमने मकान बनाया, तुम्हारे लड़के, पोते तोड़ सकते हैं। फिर मकान तुम्हारा कैसे ? इसी प्रकार, यह नोटका बण्डल; हीरा—मोती, नाते—रिश्ते सब उधार हैं, सब पराये हैं, जिनको तुमने अपने मन में धरके 'मेरा' कहा है।

काटना पड़ता है।

(२) **लोकवासना**—हमारी इज्जत होनी चाहिए, हमारा महत्व हो, हमें कुर्सी मिले— ये सब लोकवासना मूलक संस्कार हैं।

एक सज्जन थे हमारे परिचित। बड़े विद्वान् थे। एक दिन मार्ग में उन्हें एक भिखारी मिला। बोला : 'बाबू, दो आना दे दो।'

सज्जन : 'क्यों दे दें ?'

भिखारी : 'बाबू, मैं आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी टोपी ऊँची बनी रहे। वे सज्जन थे गाँधीवादी, टोपी लगाते थे, तपाक से बोले —'अच्छा, हम तुमको दो आना नहीं, चार आना देंगे, परन्तु यह बताओ कि यदि कोई औरत तुम्हें दो आना दे तो उसको क्या कहोगे ? वह तो टोपी लगाती नहीं।'

अब भिखारी बेचारे को तो कुछ आवे नहीं, चुप हो गया। वे सज्जन बोले 'अच्छा हम बताते हैं। तुम कहना— तुम्हारी जूती की एड़ी ऊँची रहे।'

यह जो एड़ी—टोपी ऊँची रखने के लिए मन में वासना होती है, इसको लोकवासना बोलते हैं। महन्ती, मण्डलेश्वरी, नेतागिरी, प्रचारक–प्रसारक, सुधारक–संस्थापक की जो वासना है वह लोकवासना है।

(३) **शास्त्रवासना**—जिन चीजों को हम नहीं जानते जैसे स्वर्ग, नरक, धर्म, अधर्म, उनको शास्त्र के द्वारा हमारे मन में घुसाया जाता है और तन्निष्ठ वासना भर दी जाती है। इनका रंग मन पर चढ़ जाता है। इसी को बोलते हैं—कषाय। ये स्वाद में भी कषाय–कसैले होते हैं जैसे हरड़ का, आँवले का स्वाद और रंग में भी कषाय। कोई रंग कच्चा होता है जैसे पारिजात के फूलका या हल्दी का। रंगों तो कपड़ा चमक जाये और धो दो तो खतम। कुछ रंग कच्चे पक्के होते हैं जैसा नीला रंग। एक धोब में साफ नहीं होता। कुछ रंग बिलकुल पक्के होते हैं जैसे मांजिष्ठका। चढ़े तो फिर कपड़ा फटने तक चढ़ा ही रहे। परन्तु रंग कैसा भी हो, है चढ़ाया हुआ ही।

आपके अन्तःकरण में चढ़ाये हुए रंग मालूम पड़ते हैं। कौन–से दोस्त और दुश्मन पेट से साथ लाये थे ? कौन–सी भाषा और कौन–सा मजहब और कौन–सी जाति साथ लेकर पैदा हुए थे ? न भाषा, न नाता–रिश्ता, न मजहब, न जाति, सच यही तो आपके मन में भरे गये हैं।

एक करोड़पति का लड़का था। उसे बताया ही नहीं गया कि वह करोड़पति बाप का बेटा है। बीस बरस बीत गये। जब वह विलायत गया और उसने देखा कि उसके आफिसों में हजारों आदमी काम करते हैं, उसके कारखानों में करोड़ों का सामान भरा पड़ा है, देखकर वह लड़का पागल हो गया। धीरे–धीरे उसे ज्ञान होता तो अतिरेक को वह सहन कर जाता।

इसी प्रकार इस संसार का जो कषाय है वह धीरे–धीरे आपके मन में भर दिया गया है। और आपका अन्तःकरण अब उसको आत्मसात् कर गया है। कषाय अर्थात् राग–द्वेष मोह। अन्यथा आपका अन्तःकरण

---

१. कठोपनिषद् की समानार्थक श्रुति है : यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति एतावदनुशासनम्।।

कंकड़ चुन–चुन महल बनाया, लोग कहें घर 'मेरा'।
ना घर मेरा ना घर तेरा, चिड़िया रैन बसेरा॥

चिड़िया उड़ जाती है, देह गिर जाता है। कुछ हाथ नहीं लगता, हाय–हाय करते मर जाते है।

वेदान्ती लोग ब्रह्मचिन्तन में चार विघ्न मानते हैं : लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद। यहाँ 'मृदित कषाय' में 'कषाय' शब्द को इन चारों विघ्न का प्रतीक मानना चाहिए–

(१) लय– अर्थात् मनका डूब जाना, आलस्य, तमोगुण, जड़ता अर्थात् बुद्धि में कुछ न सूझना। सत्संग में बैठे वेदान्त सुनने, परन्तु सो गये, सिर–झुक गया, देह गिर गयी, साँस बढ़ गयी, कभी–कभी मुँह से लार भी निकल आयी। यदि पूछो कि क्या हुआ तो बेवकूफ लोग कहेंगे 'वेदान्त सुनते–सुनते समाधि लग गयी।' यह समाधि नहीं लय है और तुम्हारी वेदान्त–साधना का विघ्न है।

एक बात स्पष्ट कर दें। सभा में जो ध्यान लगता है वह ध्यान दम्भ होता है शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि सभा में बैठ के आसन जमाना, पीठ की रीढ़ सीधी करना आँखों को निर्निमेष कर देना जैसे मानो शान्त, ध्यानस्थ हो गये हों, इसका नाम ध्यान नहीं है। सच्चा ध्यान भरी सभा में नहीं लगाया जाता।

जब हम गोरखपुर में थे, हमारे पास एक अवधूत जी रहते थे। हमसे उम्र में पन्द्रह बरस बड़े हैं। भाईजी श्री हनुमान प्रसाद जी के मित्र थे। वे छोटे–छोटे बच्चों को बुलाते और कहते 'आओ, आओ, तुम्हें ध्यान लगवाते हैं। देखो, बैठो सिद्धासन से। हाथ ऐसे रखो, पीठ की रीढ़ सीधी करो, आँखें ऐसे करो। लो, लग गया ध्यान।' अब बेचारे वे पाँच–पाँच, छः–छः' बरस के बच्चे वे क्या जानें ध्यान क्या होता है ? ध्यान की मुद्रा को ही वे ध्यान समझते थे। उनके लिए तो खेल था वह। उनकी नानी पूछती कि क्या कर रहे हो, तो कहते 'हम ध्यान कर रहे हैं। तो आज की सभा में ध्यान लगाने वालों की भी ऐसी ही दशा है। ये बड़े–बड़े बच्चे, उन्हें मालूम नहीं ध्यान क्या होता है ? वे जोर से चिल्लाने को भजन समझते हैं और वेदान्त के भजन–कीर्तन गा–लेने को ब्रह्मचिन्तन !

तो ब्रह्मचिन्तन का विघ्न है मनका सो जाना, गुम हो जाना। यह लय है। लय कषाय है। लय से न ध्यान होता है, न भक्ति और न ब्रह्म चिन्तन। भगवान्–की स्मृति में बाधक होने से यह भजन नहीं है और मनन–निदिध्यासन में बाधक होने से यह वेदान्त का साधन नहीं है।

(२) **विक्षेप**–अर्थात् चाञ्चल्य। कुर्सीपर बैठे हैं परन्तु पाँव हिला रहे हैं। एयरकन्डीशण्ड कमरे में आराम कुर्सी पर लेटे हैं, पंखा चल रहा है, और ब्रह्म चिन्तन कर रहे हैं ! वाह ! कभी हवा आगे गुदगुदा जाती है, कभी एयरकण्डीशन की हवा ठण्डी लगती है, कमरे में कभी नौकर आके चला जाता है– माने विक्षेप तो बना ही हुआ है, उसमें ब्रह्म चिन्तन की धारा तो टूटती ही है। ब्रह्मचिन्तन में मन का लय होना चाहिए न विक्षेप।

लये सम्बोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
स कषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत्॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिंगनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥

जब चित्त लय को प्राप्त हो तो उसको सम्बोध करे। जब चित्त में न लय हो और न विक्षेप; अर्थात् न तो मन में बाहर के विषय प्रविष्ट हों और न चित्त के संस्कार उद्बुद्ध हो, उस समय किसी भी प्रकार के आभास से रहित चित्त ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म चिन्तन में विक्षेप विघ्न है। उस समय शरीर को मक्खी उड़ाना, या पसीना पोंछना या पंख चलाने की इच्छा होना, यह सब विक्षेप है।

(३) **कषाय**—चित्त के रंग। कोई सफेद है तो कोई लाल और कोई काला। सात्विक संस्कार सफेद है। वे विघ्न हैं इस अर्थ में कि वे ब्रह्माभ्यास से चित्त को भटका देते हैं। साधनान्तरों के सुखों में। रजोगुणी संस्कार लाल रंग के हैं। वे मनुष्य को रंग में, द्वेष में; कर्म में भटकाते हैं और ब्रह्मचिन्तन से विरत करते हैं। तमोगुणी संस्कार काले रंग के हैं। वे आलस्य, प्रमाद, मोह के द्वारा जीव को ब्रह्मचिन्तन से विरत करते हैं। 'क्या रखा है त्याग में, वैराग्य में ? क्या ज्ञान; क्या विज्ञान, सब एक ही है।' यह विचार चित्त का तमोगुण—जन्य विघ्न है।

(४) **रसास्वाद**—अल्प में सुख का स्वाद लेना, आसक्ति रखना।

नास्वादयेत् सुखं तत्र निस्संगः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चरन् निश्चलच्चित्तं एकीकुर्याद् प्रयत्नतः॥

अच्छाजी; चित्त में न लय है न विक्षेप, माने चित्त न तो सोता है और न शरीर से बाहर निकलता है, चित्त अपने भीतर भी झूमता नहीं है। चित्त को अपने आत्मा से भिन्न भी नहीं देख रहे हैं। बहुत बढ़िया अवस्था हो गयी चित्त की। बहुत मजा आया इस ब्रह्मचिन्तन में। तो यह मजा आत्मानन्द था कि स्थित्यानन्द ? यह आत्मानन्द था कि विषयानन्द ? तुमने मजा लिया तो तुम इस चिन्तन के भोक्ता हो गये। यही रसास्वाद है। भोक्ता की यह स्थिति अकर्ता—अभोक्तारूप स्वप्रकाश ब्रह्म का प्रकाश होने में बाधक हो जायेगा। बाबू ! इससे राग की वासना दृढ़ होगी, और तुम रागी बन जाओगे; अपने अन्तःकरण में ही अटक जाओगे ! अन्तःकरण की स्थितियों में ही लटक जाओगे और ब्रह्म तो दूर ही रह जायेगा !

उपर्युक्त चारों विघ्नों से जब ऊपर तब निर्विघ्न तत्वज्ञान होगा। अब आप लोग तो तीन मिनट में ही ब्रह्म होकर लौट आते हो। इसमें कोई क्या करे। यह ठीक है कि शास्त्र में वर्णन है कि फूल मसलने और पलक गिरने में तो कुछ समय लग सकता है, परन्तु ब्रह्मज्ञान होने में समय नहीं लगता। जनकादि के उदाहरण भी हैं शास्त्र में। परन्तु आप जनक तो बनना चाहेंगे परन्तु उन्होंने पहले कितनी तपस्या की, यह बात आपके ध्यान में नहीं आती।

विघ्नों के अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान में चार प्रतिबन्ध भी हैं :—प्रज्ञामान्द्य, कुतर्क, विषयासक्ति और विपर्यय में दुराग्रह। प्रतिबन्ध अर्थात् ब्रह्मज्ञान के होने में रुकावट क्या है ?

(१) **प्रज्ञामान्द्य**—अर्थात् बुद्धि का स्थूल होना। सूक्ष्मविषयों का बुद्धि द्वारा अग्रहण। आपकी बुद्धि संसार के स्थूल या अशुद्ध विषयों में तो सरपट दौड़ती है कि अमुक की बहू—बेटी में क्या दोष है, कि हमारा दुश्मन क्या—क्या गलती करता है अथवा दुनिया का वैभव न्याय से या अन्याय से कैसे इकट्ठा किया जा सकता है परन्तु यदि आत्मचिन्तन की बात आयी तो जैसे मानों ताकत ही नहीं है। यही प्रज्ञामान्द्य है। मुमुक्षु की प्रज्ञा ब्रह्मविषय में पैनी होनी चाहिए।

(२) कुतर्क—कुछ होते हैं कि हर बात में बाल की खाल निकालते हैं— ऐसा कैसे होगा, ऐसा कैसे होगा ? उन्हें बस बात काटना, समझने की कोशिश नहीं करते। श्रद्धा है नहीं, तर्क के नाम पर कुतर्क करते हैं। गुरु और शास्त्र के वाक्यों में अनुकूल युक्तियों का प्रयोग तो सुतर्क है, परन्तु बात को सोचा नहीं, समझा नहीं, इधर बात निकाली और उधर तलवार निकालकर काट दिया— यह कुतर्क है। कुतर्क का निवारण क्या है कि जो बात कही जाय उसमें मिनट, दो मिनट, घण्टा—दो—घण्टा, दिन—दो—दिन लगाये जाँय, उसको समझने की कोशिश करें अन्यथा उस विषय में प्रश्न करके जिज्ञासा शान्त करें।

(३) विषयासक्ति—संसार के विषयों में सत्यत्व—बुद्धि, सुख—बुद्धि और पुनः—पुनः रमणीयता बुद्धि होना, यह विषयासक्ति का लक्षण है।

(४) विपर्यय में दुराग्रह—आत्मा को अज्ञान के कारण जो अन्य मान लिया है उसी मान्यता को दृढ़ता से पकड़े रखना—यह विपर्ययय में दुराग्रह है। 'मैं हिन्दू हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ'— ये अक्लिष्ट विपर्यय हैं। 'मैं चोर हूँ, मैं व्यभिचारी हूँ'—ये क्लिष्ट विपर्यय हैं। 'मैं ब्राह्मण हूँ तो सन्ध्या—वन्दन कैसे नहीं करूँगा, गायत्री का जप कैसे नहीं करूँगा, अपवित्र भोजन कैसे करूँगा'— यह साधक (अक्लिष्ट) विपर्यय है। यों आत्मा को ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी मानना विपर्यय ही है। परन्तु लोग होते हैं महाराजा, कि पत्थरों की राय सिर माथे पर धनाला यहीं गिरेगा। हम ब्रह्म सही, परन्तु 'मैं अमुक गोत्र का शर्मा हूँ, मैंने अमुक—अमुक पाप किये हैं, मैं पापकर्मा हूँ, मैं सुख—दुःख का भोक्ता हूँ, परिच्छिन्न हूँ' यह मान्यता उनकी नहीं कटती। यही विपर्यय में दुराग्रह है।

कठोपनिषद् में चार बातें कहीं गयी हैं[1]—

१. आपके जीवन में जो दुश्चरित्र हैं उनको छोड़िये।

२. आपके भीतर जो काम—क्रोधादिका वेग है उसे शान्त कीजिये।

३. आपके मन में जो विक्षेप है उसे शान्त कीजिये।

४. सिद्धियों के चक्कर में मत पड़िये। किसी के भभूत बरसाने, शहद गिराने या घड़ी—जेवर आकाश में—से प्रकट कर देने के चक्कर में मत आइये। ये तो आप बाजार से भी खरीद सकते हैं। इनसे ब्रह्म नहीं मिलेगा। बारह वर्ष बड़ी तपस्या की और खड़ाऊँ पहनकर पानी पर चलने का सामर्थ्य आ गया तो क्या ? यह तो मल्लाह को दो आना देकर भी बारह मिनट में नदी के पार जाया जा सकता है। इससे ब्रह्म नहीं मिलेगा। सिद्धि की लालच जिसके मन में हो जाती है उसे ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता। स्वयं सिद्ध हो गये तब भी नहीं होगा।

तो नारद मृदित कषाय हैं। इसका अर्थ है कि उनका अन्तःकरण तीनों प्रकार की वासनाओं, चारों कषायों, चारों प्रतिबन्धों और कठोपनिषद्वर्णित चार दुराचरणों से विनिर्मुक्त है। तभी तो भगवान् सनत्कुमार ने उन्हें भूमविद्या के श्रवणमात्र से ही तमस् का दूसरा किनारा (ब्रह्मज्ञान) दिखा दिया।

तस्मै मृदितकषाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।

---

१. नाविरतोदुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था.....

व्यावहारिक धर्म क्या है, इस सम्बन्ध में हर व्यक्ति के विचार, व्यावहारिकता सम्बन्धी उसके सिद्धान्त तथा अपने ऐसे दृष्टिकोण के अनुरूप होते हैं, जहाँ से वह कार्यारम्भ करता है। ज्ञान है, कर्म है।

दार्शनिकों का मत है, मुक्ति तथा बन्धन के अन्तर का कारण ज्ञान तथा अज्ञान है। उसके लिए लक्ष्य है, ज्ञान और उसकी व्यावहारिकता ज्ञान–प्राप्ति के लिए होती है। भक्त का व्यावहारिक धर्म होता है प्रेम तथा श्रद्धा की अमित शक्ति ! .....कर्ममार्गी सत्कर्म को ही अपना व्यवहार्य धर्म बनाता है। जैसा अन्यत्र भी देखा जाता है, हम सदा दूसरे के आदर्श की उपेक्षा करने और सारे संसार को अपने आदर्श के साँचे में ढालने के प्रयत्न में लगे रहते हैं।

प्रेम से परिपूर्ण व्यक्ति अपने सहजीवियों की भलाई को ही धर्माचरण मानता हैं यदि मनुष्य कोई अस्पताल आदि बनवाने में मदद न दें, तो वह यह सोचने लगता है कि उनका कोई धर्म नहीं है। सभी एक सा ही करें, ऐसी कोई बात नहीं है। इसी प्रकार दार्शनिक ज्ञान–साधना न करने वाले की अवहेलना कर सकता हैं भले ही लोग बीस हजार अस्पताल बनवा दें, ज्ञानी उन्हें देवताओं के पशु मात्र सिद्ध करेगा। भक्त के अपने ही विचार और मानदण्ड होते हैं। ईश्वर से प्रेम न करने वाले जैसे भी कर्म क्यों न करें, उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ नहीं है। योगी का विश्वास आत्म संयम और अन्तः चित्तवृत्ति–विजय पर रहता है। 'इस दिशा में आपकी सफलता कितनी बढ़ी है ? शरीर तथा इन्द्रियों पर कितना नियन्त्रण हुआ है ? 'योगी के ये ही प्रश्न रहते हैं जैसा कहा गया है, हर व्यक्ति दूसरों को अपने आदर्श से ही परखता हैं मनुष्य लाखों डॉलर दान में क्यों न दे चुके हों या भारतीयों की भाँति चूहों–बिल्लियों को क्यों न अन्न खिला चुके हों ! उनका कहना है कि मानव अपनी चिंता स्वयं कर सकता है, लेकिन बेचारे जीव–जन्तु ऐसा नहीं कर सकते। यही उनकी धारणा है। लेकिन बेचारे जीव जन्तु ऐसा नहीं कर सकते। यही उनकी धारणा है। लेकिन योगी का चरम लक्ष्य (अन्तः) चित्तवृत्ति–निरोध है और वह उसी कसौटी पर मानव को कसता है।....

इस व्यावहारिक धर्म के विषय में सदैव बातें किया करते हैं। लेकिन मानते यह हैं कि यह व्यावहारिकता हमारे अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ही होनी चाहिए। विशेषकर पश्चिमी देशों में यही बात है। प्रोटेस्टेन्टो (Protestants) का आदर्श सत्कर्म है। वे भक्ति या दर्शन की ज्यादा चिंता नहीं करते हैं। वे सोचते हैं, इनकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं है। उनका तर्क है, "तुम्हारा ज्ञान है क्या ? मानव को कुछ न कुछ करना है !"... थोड़ा सा मानवतावाद ! गिरजे दिन–रात क्रूर अज्ञेयवाद के विरुद्ध अपना अभियान चलाया करते हैं। परन्तु स्वयं भी उसी ओर तेजी से झुकते दृष्टिगोचर होते हैं। निर्मम गुलाम ! उपयोगितावादी धर्म ! यही आज की स्थिति है। यही कारण है कि पश्चिम में कुछ बौद्धों ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली। लोग यह नहीं जानते कि ईश्वर है

या नहीं, कोई आत्मा है या नहीं। उनका विचार है, संसार दुःखी से परिपूर्ण है। दुःख संसार की सेवा करने का प्रयत्न करो।

योग–सिद्धान्त का, जो आज के व्याख्यान का विषय है, दृष्टिकोण यह नहीं है। उसकी शिक्षा है कि आत्मा की सत्ता है और इसमें सर्वशक्ति निहित है। इसमें यह शक्ति पहले से ही है, और यदि हम शरीर को अपने अधीन कर लें, तो सारी शक्ति अभिव्यक्त हो जायेगी। सम्पूर्ण ज्ञान आत्मा में ही है। सामान्य जन संघर्षरत क्यों है ? दुःख घटाने के लिए ही तो .....शरीर को वशीभूत न करने से ही सारे दुःख का सूत्रपात होता है।....हम घोड़े के आगे गाड़ी रखते हैं..... उदाहरणार्थ कर्म–प्रक्रिया को ही लो। हम गरीबों को आराम देकर उनकी भलाई करने का प्रयत्न करते हैं। हमें दुःख के मूल कारण का ज्ञान नहीं है। यह तो सागर को बाल्टी से खाली करने के बराबर है, और लगातार पानी भरता ही जाता है। योगी इसे मूर्खतापूर्ण समझता है। वह कहता है कि दुःख से त्राण पाने का पहला उपाय दुःख का मूल कारण जान लेना है।...

हम यथाशक्ति अच्छाई करने का प्रयत्न करते हैं ! यह किसलिए ? अगर कोई असाध्य रोग है, तो हम क्यों संघर्षरत हों और अपनी रक्षा का प्रयत्न करें ? यदि उपयोगितावादी कहे, "ईश्वर और आत्मा के विषय में परेशान मत होओ", तो उसका योगी पर या संसार पर प्रभाव ही क्या पड़ेगा ? ऐसी मनोवृत्ति से दुनिया का कोई भला नहीं होने का। फिर भी दुःख की मात्रा अधिकाधिक बढ़ती जा रही है।....

योगी कहता है कि तुम्हें इन सबके मूल तक पहुँचना होगा। संसार में दुःख क्यों है ? योगी उत्तर देता है, "हमारी मूर्खता ही इसका कारण है, शरीर पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है। बस, और कुछ नहीं।" वह इस दुःख पर विजय दिलाने में समर्थ साधनों की शिक्षा देता है। अगर इस तरह अपने शरीर पर नियन्त्रण कर लोगे, तो संसार का सारा दुःख दूर हो जायेगा। हर अस्पताल यही मनाता होगा कि अधिक से अधिक बीमार वहाँ आयें। जब भी तुम दान देने की इच्छा करते हो, तो तुम्हारे मन में रहेगा कि हमेशा तुम्हारी दया का पात्र कोई भिखमंगा रहे। यदि तुम मनाओ, "हे भगवन्, संसार दयालु लोगों से भरा रहे;" तो तुम्हारा आशय होगा कि संसार भिखमंगों से भी भरा रहे। संसार दूसरों की भलाई के कार्य से परिपूर्ण रहे—संसार दुःखपूर्ण रहे। यह निरी गुलामी है।

योगी के अनुसार यदि तुम दुःख का मूल कारण जान जाओ, तो धर्म व्यावहारिक है। संसार के समस्त दुःख का मूल इन्द्रियाँ हैं। क्या सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि में कोई रोग है ? वही आग, जो रसोई में काम आती है, बच्चे को जलाती भी है। क्या यह आग का दोष है ? बलिहारी है अग्नि की ! इस बिजली को भी धन्य। वह प्रकाश देती है !... दोष तुम किस पर मढ़ोगे ? पंचभूतों पर नहीं! संसार न अच्छा है, न बुरा। संसार संसार है। अग्नि अग्नि है, यदि तुम उसमें अपनी अंगुली जला लो, तो यह मूर्खता है। तुम यदि उससे रसोई बनाओ और इससे अपनी भूख मिटाओ, तो तुम

बुद्धिमान हो। इतना सा ही भेद है। परिस्थितियाँ न अच्छी होती हैं, न बुरी। व्यष्टि—मानव ही अच्छा या बुरा हो सकता है। संसार को भला या बुरा कहने का अभिप्राय क्या है ? दुःख और सुख केवल इन्द्रियासक्त मनुष्य के लिए है।

योगियों की धारणा है कि प्रकृति भोग्या और आत्मा भोक्ता है। ये सारे दुःख और सुख कहाँ है ? इन्द्रियों में ही ! इन्द्रियों का संग ही हर्ष—शोक, शीत—उष्ण आदि को जन्म देता है। यदि हम इन्द्रियों को संयत कर सकें और उनके विषय को निर्दिष्ट कर सकें— इस समय की भाँति—तो तुरन्त समस्या का समाधान हो जाय। हम इन्द्रियों के जाल में फँसे है; वे हमेशा हमें नचाती है और बुद्धू बनाती है।

मान लो, यहाँ दुर्गन्ध है। मेरी नाक से स्पर्श करते ही वह मुझे क्लेश देने लगेगी। मैं अपनी नाक का गुलाम हूँ। गुलाम न होता, तो कोई परवाह न करता। कोई मुझे गाली देता है। उसकी गालियाँ कानों से प्रविष्ट हो मेरे मन और शरीर मे स्थिर हो जाती है; वहीं जमी रहती हैं। मैं यदि स्वामी हूँ, तो कहूँगा, 'इन्हें छोड़ो; इनसे मेरा कुछ नहीं बिगड़ने का ! मैं परेशान नहीं। मैं निश्चिन्त हूँ।' यह सीधा, सच्चा स्पष्ट सत्य है।

दूसरी समस्या, जो सुलझानी है, यह है : क्या यह व्यावहारिक है ? मानव अपने शरीर पर नियन्त्रण पा सकेगा ? योग इसे व्यावहारिक—यत्नसाध्य—कहता है... मान लो, ऐसा नहीं है, मन में कुछ संदेह है। तुम्हें इस दिशा में प्रयत्न करना होगा। कोई दूसरा उपाय नहीं है ....

तुम लोकहितकारी कार्य सदा करते रहो। तब भी, तुम अपनी इन्द्रियों के दास रहोगे, परेशान रहोगे, दुःखी रहोगे। तुम हर धर्म के दर्शन का अध्ययन कर सकते हो। यहाँ के निवासी बोझ की बोझ पुस्तकें अपनी पीठ पर ढोते फिरते हैं। वे मात्र शास्त्रज्ञ हैं, इन्द्रियों के दास है, इसलिए एक साथ ही सुखी और दुःखी है। वे दो हजार पोथियाँ पढ़ते हैं। .....तुम अपने को मानव कहते हो! तुम उद्यत होते हो.... और अस्पताल आदि बनवाते हो। तुम मूर्ख हो !

पशु और मनुष्य में भेद क्या है ?.....आहार, निद्रा, भय और प्रजनन आदि समान रूप से दोनों में पाये जाते हैं। भेद इतना ही है कि मनुष्य इन सबका नियन्त्रण कर सकता है और वह ईश्वर—प्रभु बन सकता है। पशु यह नहीं कर पाते। पशु परोपकार कर सकते हैं। चीटियाँ परोपकार करती हैं, कुत्ते भी करते हैं। ऐसी दशा में फिर भेद कहाँ ! मानव अपना प्रभु स्वयं हो सकता है। वे वासना—जन्य कोई भी विकार रोक सकते है.....यह बात पशु के वश की नहीं रहती। चारों ओर वह ....स्वभाव की श्रृंखला से जकड़ा है। इतना ही अंतर है—एक अपने स्वभाव का स्वामी और दूसरा अपने स्वभाव का दास। स्वभाव है क्या ? पाँचों इन्द्रियाँ ही स्वभाव है।.....

(क्रमशः)

'योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज योग विद्यालय का शिलान्यास

रायबरेली। सर्वान्तरयामी, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान, योग योगेश्वर महाप्रभुजी की कृपा से तथा श्री सद्गुरुदेव भगवान के आशीर्वाद के फलस्वरूप दिनांक २८ मई १९९८ को अमराईधाम, सीवन (रायबरेली) में उ० प्र० के शिक्षा–मंत्री माननीय श्री रवीन्द्र जी शुक्ल के कर–कमलों द्वारा बड़ी धूमधाम से **'योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज योग विद्यालय'** के शिलान्यास का पावन कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। सर्वप्रथम माननीय मुख्य अतिथि मंत्री जी ने प्रथमतः योग आश्रम में प्रवेश कर योगेश्वर महाप्रभुजी व श्री सद्गुरुदेव भगवान के दिव्य स्वरूपों पर माल्यार्पण किया तथा मंच पर अध्यक्ष महोदय आदरणीय श्री स्वामी जी (लखनऊ) को भी माला पहनाकर प्रणाम करते हुए आसन ग्रहण किया। मुख्य अतिथि के स्वागत में योग विद्यालय की छात्राओं तथा कु. पूनम दुबे (कालपी) द्वारा स्वागत गीत व भजन प्रस्तुत किया गया जिसकी सभी ने खूब सराहना की।

उक्त सुअवसर पर उप–जिलाधिकारी, क्षेत्राधिकारी, बेसिक शिक्षा अधिकारी, जिलाविद्यालय निरीक्षक आदि स्थानीय अधिकारियों के अतिरिक्त विशेष रूप से सर्वश्री विमल अग्रवाल, आर.एस.चौहान, रवीकुमार अग्रवाल, डा. शिवशंकर त्रिपाठी, (चिकित्सक, रायभवन लखनऊ) मोहन लाल अग्रवाल (लखनऊ), भुवनेन्द्र झा (दूरदर्शन) पी.सी. कनोडिया (कानपुर) चिन्तामणि (शुक्ल गंज) चन्द्रकिशोर दुबे–पूर्व आचार्य–कालपी, वीरेन्द्रसिंह–आचार्य–कालपी, सुशील कुमार तिवारी, रामप्रकाश तिवारी (डाकबाबू), उमाशंकर तिवारी–व्यवस्थापक/प्रधानाचार्य, यदुनाथ सिंह, लक्ष्मण सिंह आदि ने मुख्य अतिथि महोदय का माल्यार्पण कर स्वागत किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री सिद्ध योग शिक्षण संस्थान, लखनऊ के संस्थापक एवं संचालक योगिराज ब्र. ओमप्रकाश जी ने एवं मंच संचालन पं. चन्द्रकिशोर दुबे–(कालपी), ने किया। माननीय शिक्षा मंत्री जी का परिचय वीरेन्द्र सिंह (आचार्य–कालपी) ने दिया। मुख्य अतिथि माननीय मंत्री जी, जो श्री सद्गुरुदेव भगवान के परम कृपापात्र शिष्य भी हैं, ने अपने वक्तव्य में योग विद्या की वर्तमान समय में उपादेयता व महत्ता पर विशेष प्रकाश डाला। विश्वबन्धुत्व भारत में मानव–मूल्यों व भारतीय संस्कृति का निरन्तर ह्रास होते जाने व पैकाले की अभी भी लागू शिक्षा–व्यवस्था के परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय प्रेम त्याग, बलिदान, सेवा, पुरुषार्थ का राष्ट्रीय राजनीति में अभाव होते जाने की स्थिति में शिक्षा व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन करने की आवश्यकता पर बल दिया। शिक्षा मंत्री की हैसियत से अपने अल्प–काल के मंत्रित्व अवधि में जो आशातीत परिवर्तन किये हैं और आगे भी जो कार्य प्रस्तावित है, उन्हें भी विस्तार से अवगत कराया। उसी श्रृंखला में अमराई धाम–सीवन (रायबरेली) के पिछड़े क्षेत्र में ब्र. श्री ओम प्रकाश (लखनऊ) के अथक प्रयासों से स्थापित योग विद्यालय के लिए भूरि–भूरि प्रशंसा की तथा अपने निजी स्तर से व शासन से भी सभी प्रकार की मदद देने की घोषणा की।

अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में श्री ओमप्रकाश जी ने योग क्या है ? अमूल्य मानव जीवन पाकर किस प्रकार सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए राजा जनक की तरह मुक्ति व परम शान्ति प्राप्त की जा सकती है ? आदि–आदि क्लिष्ट प्रश्नों का विषद विवेचन प्रस्तुत कर सभी प्रबुद्धवर्ग, जनता व सीवन तथा राजापुर गाँववासियों व भक्तों को मंत्रमुग्ध कर दिया। उन्होंने इस 'योग विद्यालय' के संचालन में सभी विशेषतः आर्थिक सहयोगियों की सराहना की तथा अन्त में पं. चिन्तामणि पाँडेय (शुक्लगंज) ने मुख्य अतिथि, माननीय अध्यक्ष महोदय, अधिकारियों तथा उपस्थित भक्तों व जनता के प्रति धन्यवाद दिया। उन्होंने सर्वश्री पुरुषोत्तम कनौडिया (कानपुर), कमलेश शुक्ल (कानपुर) आर. एस.चौहान (लखनऊ) इलाचन्द्र वर्मा (लखनऊ), रामनारायण अग्रवाल (लखनऊ), डा. शिवशंकर त्रिपाठी (लखनऊ) एवं वीरेन्द्र सिंह आचार्य (कालपी) द्वारा विद्यालय निर्माण में की गई आर्थिक सहायता के लिए उनका विशेष रूप से आभार व्यक्त किया। शिलान्यास कार्यक्रम की सफलता के लिए सर्वश्री विमल अग्रवाल (लखनऊ) चिन्तामणि पाण्डेय (शुक्लागंज) सालिगराम व गंगाचरण जयसवाल (सीवन) मोहनलाल अग्रवाल (लखनऊ) का सहयोग उल्लेखनीय रहा।

शिवगढ़ के राजा राकेश प्रताप सिंह विद्यालय के संरक्षक हैं। विश्वास है उनके दिशा–निर्देशन में यह विद्यालय उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर अग्रसित होता रहेगा।

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008 July 1998

प्रेषण कार्यालय :–

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book Post

श्री ----------

इन्द्रिय निग्रह

अवशेन्द्रिय चित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया।
दुर्भगाभरण प्रायो ज्ञानं भारः क्रियां बिना।

—हितोपदेश

जिनके वश में चित्त और इन्द्रियाँ नहीं हैं, उनकी क्रिया (कर्म) हाथी के स्नान के समान व्यर्थ है। बिना आचरण किये ज्ञान बोझ के समान है जैसे कुरूप स्त्री के पास आभूषण।

प्रकाशक एवं मुद्रक–विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326